सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- ७ अक्टूबर १९९३

संस्थापक:
योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन श्री महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सैंवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवांई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

अक्टूबर
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख	लेखक	पृष्ठ
★ सत्यस्यापिहितं मुखम् !		1
★ योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल	—योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	2
★ गुरुदेव ! नमामि	(सम्पादकीय)	5
★ रमता जोगी बहता पानी	(उरु ज्योति से साभार)	9
★ 'स संन्यासी च योगी च'	—श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'	11
★ योग से क्रोध शमन	—श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा, रीडर (दिल्ली)	14
★ सात्विक आहार पर गीता-विचार	—श्री शिवा भावे	18
★ श्री सद्गुरु कृपा-लीला	—श्री अवनीश कुमार भटनागर	20
★ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्		22
★ स्वार्थोन्मूलन ही धर्म है	—स्वामी विवेकानन्द	24
★ सुख की चाह	—श्री विष्णुप्रसाद व्यास	25
★ मृत्यु का तर्पण	—काकासाहेब कालेलकर	30
★ मनीषियों की दृष्टि में श्रीमद्भगवद्गीता	—श्री राजगोपालाचार्य का विवेचन	33
★ योग ही परम औषधि है	—श्री भागीरथ प्रसाद शास्त्री	37

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया।

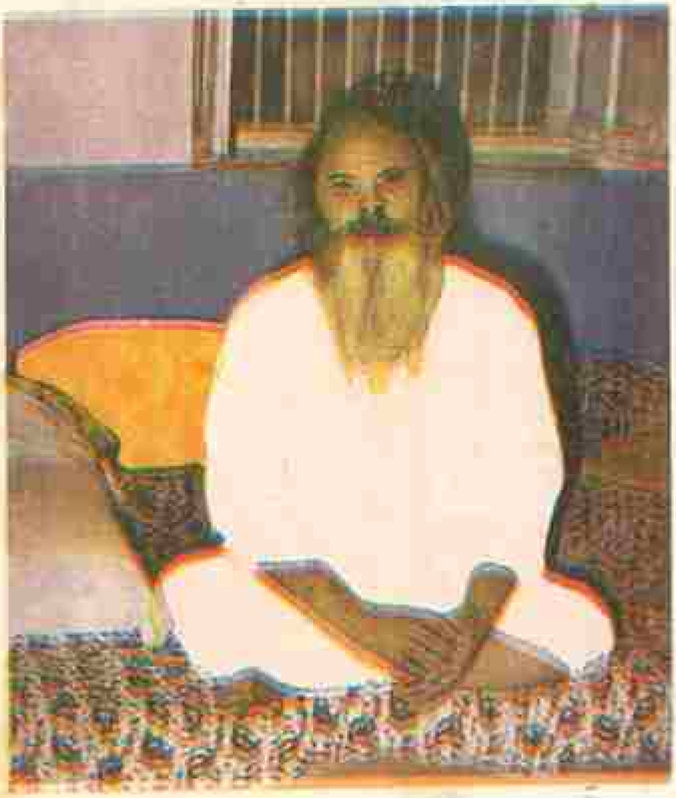

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जन्म-दिवस की पावन वेला विजय दशमी

पर

शतशः नमन और स्मरण

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६ | अङ्क ७ | अक्टूबर १९९३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्यामुंख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्राप्यर्थात् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

सत्यस्यापिहितं मुखम् !

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

—यजुर्वेद

अर्थात्

वेद कहते हैं कि सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है। मानो सत्य की देवी ने सुनहरी घूंघट से अपना सुन्दर वदन छिपा लिया है अथवा उसकी सुनहरी अलकें ही मुख पर आ पड़ी हैं, जो घूंघट का काम कर रही हैं। यदि कहें कि सूर्य अपनी ही किरणों में स्वयं छिप गया है तो अधिक ठीक होगा। यह उपमा आत्मदेव के लिए दी गई है। अध्यात्म सूर्य, जो सत्य है, अपनी माया के सुनहरी परदे में स्वयं अन्तर्हित हो रहा है।

—धूलिसार

योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल

(गतांक से आगे)

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

मानिकचन्द दलाल प्रभुजी के साधकों में से एक थे। मेरे सामने मानिकचन्द अपनी पत्नी के साथ लगभग दो माह तक आश्रम में नित्य आते थे और श्री प्रभुजी की आज्ञा से जीवन-तत्व साधन किया करते थे। साधन करने में श्री प्रभुजी की अनुपम कृपा से कोई विघ्न नहीं हुआ। साधन-काल में छः-सात सेर कच्ची सब्जी, तीन-चार सेर दूध, दो-तीन सेर चने को भिगोई गई कच्ची दाल, घी, कई-कई सेर फल, दही इत्यादि को नित्य खाते हुए उनको मैंने स्वयं देखा। दो महीने की नियमित साधना के बाद उनका स्वास्थ्य किसी पूर्ण स्वस्थ युवकके समान ही बलवान हो गया था। शारीरिक-स्वास्थ्य के इसी साधना-काल में मानिकचन्द की आत्मिक-साधना भी श्री प्रभुजी की कृपा से चल पड़ी थी। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में मानिकचन्द ने सपत्नीक योग-दीक्षा भी ग्रहण की और दोनों का ही ध्यान-योग में दिन दूना—रात चौगुना जैसा नित्य बढ़ता गया। शरीर भी उनका पूर्ण स्वस्थ और निरोग हो गया। नियमित ध्यानाभ्यास से उनकी स्थिति उच्चतर होती गई।

संसार परिवर्तनशील है। यह पाञ्चभौतिक शरीर एक न एक दिन जाने के लिए ही इस संसार में आता है। लगभग दस बारह वर्ष अपने अभ्यास में मग्न रहने के बाद एक दिन मानिकचन्द ने अपनी ध्यान-समाधि में देखा—मेरा मृत्युकाल समीप आ गया है। श्री प्रभुजी उस समय स्थूल रूप में विराजमान थे। मानिकचन्द ने श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में निवेदन किया—प्रभो, मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि आठ-दस दिन में मेरा सम्बन्ध इस भौतिक शरीर से छूटने वाला है। क्या यह सत्य है?

योगाभ्यासी मानिकचन्द दलाल की यौगिक साधनाके विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने प्रेरक-संस्मरण भी।
—सम्पादक

श्री प्रभुजी सुनकर हँस पड़े और बोले—घबराता क्यों है! यह तन तो नश्वर है ही, देर-सबेर इससे वियोग होना निश्चित ही है। तत्व विजयी तो तू है नहीं, जो इस तन को अधिक काल तक कायम रख सके। मानिकचन्द ने विनय पूर्वक पूछा—हे प्रभो, आप सर्वसमर्थ हैं, कृपानिधान हैं। क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है कि मैं इस शरीर में और कुछ समय तक रह सकूं?

श्री प्रभुजी ने कहा—हाँ, केवल एक उपाय है, वह यह कि हमारे पास आने के बाद से ध्यान-समाधि का निरन्तर अभ्यास करके दस बारह वर्षों में तुमने जो पुण्य-सञ्चय किया है, उसका संकल्प कर दो। उसके फल से दस-पाँच वर्ष और तुम्हारा यह शरीर तो बना रहेगा परन्तु फिर तुम्हारी यह ध्यान-स्थिति समाप्त हो जायेगी। घर जाकर अपनी पत्नी और बाल-बच्चों के साथ विचार करके कल हमें आकर अपना निश्चय बता देना।

मानिकचन्द घर गया। इधर उसकी धर्मपत्नी ज्ञानदेवी ने यह सब बातें अपनी ध्यान-स्थिति में पहिले ही देख ली थीं। उसने आते ही अपने पति को समझाना प्रारंभ कर दिया "यह बहुत अच्छा सुयोग बना है। तुम्हारी सम्प्रज्ञात योग की बड़ी उच्चावस्था बन चुकी है और कल्याण-धन आनन्दकन्द श्री प्रभुजी सशरीर सामने विराजमान हैं। घर में किसी का पैसा भी लेना-देना शेष नहीं है। बाल-बच्चे सब प्रकार से सुखी हैं। भविष्य का समय कैसा होगा—कहा नहीं जा सकता। ध्यान-योग का पुण्य-संकल्प कर देने के बाद पुनः ऐसी स्थिति नहीं बन सकेगी ऐसा स्वयं श्री प्रभुजी के मुखारविन्द से निकला है। ध्यान-स्थिति नष्ट हो जाने पर, फिर आप शरीर धारण करके भी क्या प्राप्त कर सकेंगे? आपकी इतनी उच्च ध्यान-स्थिति, सम्मुख स्वयं कृपासागर श्री प्रभुजी का विराजमान होना, घर-गृहस्थी के सब प्रकार के कार्यों का पूर्ण हो चुकना—इससे बढ़कर और कौन-सा उत्तम समय होगा? यदि आनन्दकन्द श्री प्रभुजी कृपा करके मुझे भी ऐसा सुयोग दें, तो मैं कभी भूलकर भी पीछे नहीं हटूंगी। मेरे विचार में संसार के मोह पाश में फँसकर इस सुअवसर को छोड़ना उचित नहीं है।" परम साध्वी अपनी धर्म-पत्नी के यह हितकारी वचन मानिकचन्द के हृदय में घर कर गये और उसने इस सुअव-सर को न खोने का निश्चय कर लिया।

अगले दिन मानिकचन्द ने श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में जाकर विनयपूर्वक निवेदन किया—हे दीनबन्धो! बड़े सौभाग्य से यह इतने आनन्द का दिन आया है। मेरे परम पुण्य हैं जो आपके दर्शन करते-करते ही मैं लीन हो जाऊँगा। कुछ दिन पूर्व ही कृपा करके आपने यह ज्ञान करा दिया, यह तो आपका बड़ा अनुग्रह है। अपने सारे काम समाप्त करके अब इस अल्पावधि को आपके पावन-चरणकमलों के चिन्तन में ही व्यतीत कर सकूँ—ऐसी कृपा कीजिए। अनन्त ज्योति करुणासागर, मैं आपकी शरण हूँ। कृपा करके अपने चरणों में लीन कर लीजिए।

कृपानिधान श्री प्रभुजी ने मानिकचन्द के इन पवित्र एवं विनय भरे वचनों को सुनकर प्रसन्न मन से आज्ञा दी—अच्छा, जाओ। एक सप्ताह तक पवित्र गंगाजल, तुलसी-पत्र, दूध और फलादि सात्विक आहार का सेवन करते हुए खूब ध्यान का अभ्यास करने में तत्पर रहो। आठवें दिन तुम्हारा इस शरीर से सम्बन्ध छूटने वाला है।

मानिकचन्द ने श्री प्रभुजी की आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए, अत्यन्त सूक्ष्म आहार लेकर अहर्निश ध्यान-योग का अभ्यास

किया। सब प्रकार के पारिवारिक सम्पर्कों को त्यागकर, एकान्त कमरे में स्वच्छ वायुमण्डल में स्वच्छ वस्त्र धारण करते हुए पूर्ण पवित्रता से इस कार्यक्रम को निभाया।

आठवें दिन प्रातः अपनी पुण्यवती धर्मपत्नी को आज्ञा दी—आज हमारा यह शरीर जाने वाला है। तुम पूर्ण प्रसन्नता से भूमि लीप कर मेरे लिए भू-शैय्या का प्रबंध करो। उनकी आज्ञाकारिणी साध्वी पत्नी ने आज्ञा का पालन किया। मानिकचन्द श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का ध्यान करते हुए भू-शैय्या पर बैठ गये और ध्यान-मग्न हो गये। उनके मुख-मण्डल पर अपूर्व शान्ति एवं तेज विराजमान था और वह पूर्णानन्द से आनन्दित प्रतीत होते थे। इसी बीच में उनके किसी कुटुम्बी ने आकर उनसे कहा—मानिकचन्दजी, सुना है आज आपकी परलोक-यात्रा हो रही है। किन्तु आज पंचक लग गये हैं, अतः आज आपके शरीर का छूटना शेष कुटुम्ब के लिए बहुत अनिष्टकारी होगा।

मानिकचन्द हँसे और बोले—अच्छा, पंचक लग गये हैं। फिर अपने पुत्र हीरानन्द को बुलाकर आज्ञा दी—बेटा, उन योग-योगेश्वर श्री प्रभुजी के चरणों में जाकर निवेदन करो कि पंचक लग जाने के कारण कुटुम्बीजन शंकित हैं। ऐसे दशा में आपकी क्या आज्ञा है? हीरानन्द ने श्री प्रभुजी के चरणों में पहुँचकर अपने पिता का सन्देश निवेदन किया। श्री प्रभुजी सुनकर हँसे और अपने गले से उतार एक पुष्प माला प्रसाद के रूप में हीरानन्द को देकर बोले—जाओ, मानिकचन्द को यह पुष्पमाला पहिनाकर कहना कि प्रसन्नता से पंचक का समय नि ाल ले।

हीरानन्द ने आकर अपने पिता को माला पहिना दी और श्री प्रभुजी की आज्ञा पाकर मानिकचन्द पांच दिन के लिए पुनः सचेत होकर पूर्ववत् पवित्र वातावरण में अपना ध्यानाभ्यास करते रहे। पाँच दिन तक उनके और रुक जाने के चमत्कार से मानिकचन्द के कुटुम्बियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और मोह के कारण वे लोग श्री प्रभुजी से प्रार्थना करने लगे—मानिकचन्द को आप अभी कुछ महीनों तक और भी संसार में बना रहने दें। किन्तु यह बात मर्यादा के विरुद्ध होने के कारण श्री प्रभुजी ने स्वीकार नहीं की।

मानिकचन्द ने अपने प्रयाण के दिन एकादशी की पुण्य-वेला में उन त्रिभुवन वन्दित अनुपम चरण-कमलों में ठीक योग-विधि से मन को लीन करके अपने नश्वर तन को त्याग दिया। वहाँ उपस्थित श्री प्रभुजी के कृपापात्र भक्त-समाज ने देखा कि मानिकचन्द के शरीर से एक तेज-धारा निकलकर श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में लीन हो गई है।

लाला मानिकचन्द दलाल की धर्मपत्नी ज्ञानदेवी बड़े ही पवित्र एवं उच्च विचार वाली पतिपरायणा साध्वी स्त्री थी। पति के देहावसान के बाद उन्होंने अपने जीवन को और भी तपोमय बना लिया। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का हृदय में चिन्तन करते हुए धैर्य धारण करके अपने पतिदेव द्वारा सौंपे गये बाल-गोपालों के संरक्षण के भार को बड़ी तत्परता से निभाने में लगी हुई हैं। उनके परिवार में श्री प्रभुजी की कृपा से सब प्रकार से समृद्धि, सुख और शान्ति है।

मानिकचन्दजी का परिवार पुत्र-पौत्रों से युक्त वृद्धि पा रहा है। ज्ञानदेवी अभी विद्यमान हैं। अपने पतिदेव के समान हर समय श्री प्रभुजी की कृपा इन पर बनी रहती है। ध्यान-स्थिति बड़ी उच्च एवं दिव्य है। नित्य नियमित ध्यानाभ्यास करती हैं एवं उन कृपामय श्री प्रभुजी की अनुपम कृपा के अमृत-प्रसाद को प्राप्त करती रही हैं।

सम्पादकीय :—

गुरुदेव ! नमामि

प्रायः साधारण जन आध्यात्मिक महापुरुषों को अपनी श्रद्धा और भक्ति-भावना के अनुसार अपना सद्गुरु, वन्दनीय इष्टदेव, युग-पुरुष, अथवा अवतारी पुरुष मानकर उनके उपदेशों, निर्देशों और सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप से अपने जीवन में उतारने लगते हैं साथ ही अपने इष्टदेव या आदर्शों के अनुसार ही अपने जीवन के क्रिया-कलापों को भी गति देने लगते हैं। इतना ही नहीं कि वे अपने इष्टदेव, गुरुदेव और आदर्श पुरुष के सिद्धान्तों को ही अपनी जीवनचर्या में प्रतिष्ठित करते हों बल्कि सामूहिक और व्यक्तिगत रूप में वह अपने आदर्श के अवतरण एवं जन्म-दिवस आदि मनाकर उनके लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करके भी अपने दायित्वों का निर्वाह बहुधा किया करते हैं।

भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, परमहंस रामकृष्ण, रामतीर्थ, महात्मा-गाँधी, लोकमान्य तिलक आदि की जयन्तियाँ मनाने का उद्देश्य भी प्रायः यही होता है कि लोक में उनके मंगलमय उपदेशों का प्रचार-प्रसार हो तथा जन-साधारण उन्हें अपने चरित्र में उतारकर अपना कल्याण करें एवं अपनी आसुरी वृत्तियों को दैवी वृत्तियों में बदलने की चेष्टा भी करें। अपने मन में समाये हुए अहंकार रूपी रावण को परास्त करके सब अपनी देह रूपी देवपुरी में रामराज्य की स्थापना करें ? और यही उद्देश्य होता है रामलीला के आयोजन का इस देश में। लेकिन खेद और दुःख की बात यह है कि अपने मन में समायी अज्ञानता के कारण हम इस मूल उद्देश्य को न समझकर ऐसे आयोजनों को मात्र मनोरंजन का साधन बना डालते हैं। महापुरुषों और आध्यात्मिक महाइष्टों की जयन्तियाँ भी इसी उद्देश्य को सामने रखकर मनाई जाती हैं कि जन-साधारण उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को स्वयं समझें और दूसरोंको भी समझाने का प्रयास करें। विजय दशमी का पर्व भी मनुष्य को यही शिक्षा देने के लिए हर वर्ष आता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अपने कुलगुरु वशिष्ठ से त्याग और वैराग्य की जिन वृत्तियों को अपनाना अपना ध्येय बनाया था, वैसी ही हमारी सबकी वृत्तियाँ हों। त्याग और विराग यदि हमारे स्वभाव में समा जाते हैं तो 'निराश्रित' होकर हमें कर्म करना असम्भव और दुस्साध्य नहीं रह सकता। योगिराज भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार यही तो सच्चे योगी और संन्यासी की परिभाषा होती है। जब तक फल-भोग की लालसा लेकर हम कर्मों के सम्पादन में लगे रहेंगे तब तक सकाम कर्मों से हमारा छुटकारा हो ही नहीं सकता।

यों जन्म-मरण का चक्र हमें ब्रह्म निर्वाण प्राप्त ही नहीं करने देता है। ब्रह्मलीनता या ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करने के लिए तो हमें 'कर्मण्येवा धिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की कृष्ण-

भावना को ही आत्मसात् करना होगा। हम सब स्वकर्म में निरत रहें किन्तु फलेच्छा से कमल पत्रवत् निस्पृह रहें यही तो सच्चे योगी का लक्षण होता है और यही होते हैं भक्त, ज्ञानी एवं स्थितप्रज्ञ के लक्षण, तथा यही लक्षण होते हैं समदर्शी और आत्मदर्शी के। 'सर्वभूत हितेरता' जो नहीं होते, समदर्शिता जिनके अन्तर में समायी हुई नहीं होती है वे भले ही राम, कृष्ण, बुद्ध, अथवा अन्य आदर्श पुरुषों की जयन्तियाँ मनाते रहें, उनकी जय-जयकार भी ऊँचे स्वरों से करते रहें, किन्तु वे अपने इष्टदेवों, आदर्श पुरुषों, सद्गुरुओं या अवतारी पुरुषों के सच्चे साधक या अनुयायी नहीं कहला सकते।

'विजय दशमी' की पावन वेला भी हमें अपना यही सन्देश देने को प्रतिवर्ष आती है कि मनुष्य तब तक क्लेशों और कष्टों से त्राण नहीं पा सकता जब तक कि वह अपने जीवन में नैतिकता, के उन मूल्यों को प्रतिष्ठापित नहीं कर लेता, जिन्हें अपनाने का आदेश उसे उसके आध्यात्मिक सद्गुरुओं, या आदर्श पुरुषों ने समय-समय पर दिया है। दैवी सम्पदा के रूप में युग-पुरुषों का नैतिक जीवन जीने का सन्देश सर्वत्र खुले रूप में बिखरा हुआ पड़ा है लेकिन कमी है इस खुले, बिखरे पड़े हुए दैवी-कोष को लूटने वाले तत्वदर्शी साधकों की।

'विजय दशमी' की यह पवित्र घड़ियाँ ब्रवाई धाम स्थित योग सिद्धपीठ से सम्बन्धित सभी योग प्रेमी साधकों को इसलिए अधिक वन्दनीय और माननीय बन जाती हैं कि इसी ऐतिहासिक दिवस की घड़ियों में उनके सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर अनन्त-श्री विभूषित परम पूजनीय श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का अवतरण हुआ था। अलूपुर के एक आर्य परिवार में उस दिन कितना हर्ष, कितना उल्लास और कितना उमंग भरा वातावरण रहा होगा !

निश्चित ही पावनतम होगा वह दिन, जिस दिन दिव्यगुण सम्पन्न इस बालयोगी ने अपने शैशव का प्रथम प्रभात देखा होगा। किसे मालूम था उस दिन कि आज का जन्मा यह बालक आगे चलकर सुविख्यात महायोगी प्रभुवर श्री रामलालजी से योग दीक्षा-ग्रहण करेगा और उनके निकटतम तथा प्रियतम शिष्यों में से एक होगा। और यह भी तब कौन जान पाया था कि इस बालयोगी की जीवन-यात्रा के अगले आयाम कितनी उच्चतम तपः साधना, कितनी श्रमशीलता और कितने कौतूहलपूर्ण योग-रहस्यों तथा विभूतियों से भरे हुए होंगे ? और यह भी तब किसे मालूम था कि अलूपुर में अवतरित यह दिव्यगुण सम्पन्न शिशु अपने अन्तर में एक उच्चतम सिद्धयोगी के—एक महामानव के सत्य, सहृदयता और न्यायतापूर्ण अपने कितने जीवन पृष्ठों को खुले हुए मस्तिष्क और दिलो-दिमाग से दूसरों को बिना किसी अवरोध के देने और पढ़ाने को साथ लेकर आया है ?

और यह भी किसे मालूम था उस दिन कि अलूपुर में जन्मा यह शिशु अपने सीमित से परिवार का परित्याग करके निकट भविष्य में अपने गुरुवर की आज्ञा पाकर अपना एक विशाल तपः त्यागपूर्ण व्यापक योग-परिवार बनायेगा और सिद्ध करेगा उपनिषद के इस महावाक्य को कि :

अक्षय सुख का स्रोत—भूमा में है, विशालता में है, अल्पता में नहीं।

यह भूमा वृत्ति जब मानव के चाल-चरित्र में समा जाती है तब परम प्रभु की विशालता का सागर उसके चारों ओर सहज भाव से हिलोरें लेने लगता है। संकीर्णता

ओछापन या अल्पता उसके पास ठहर ही नहीं पाती। हमारे गुरुदेव का परिचय क्षेत्र अथवा उनका कृपा क्षेत्र कितना विशाल और व्यापक था यह सभी जानते हैं। पंजाब से लेकर बंगाल तक, हिमाचल से लेकर तमिलनाडु तक उनकी प्रचार यात्रायें चलती ही रहती थीं। बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात, नेपाल आदि सभी प्रमुख प्रदेशों की धरती उनके प्रचार क्षेत्र में समायी हुई रहती थी। इतना ही नहीं विदेशी साधक भी प्रायः उनके सबाई आश्रम पर आकर उनसे योगदीक्षा लेकर अपने को कृतार्थ किया करते थे। इस रूप में उनका योग-सन्देश विदेशों के अध्यात्म प्रिय नागरिकों को भी कृतार्थ करने में पीछे नहीं रहा। अपनी दूर-देशीय लम्बी यात्राओं में उनका उद्देश्य योग-प्रचार मात्र ही नहीं रहता था बल्कि उपयोगी आसनों का अभ्यास कराकर योग चिकित्सा की सार्थकता को भी वे मूर्तमान किया करते थे। उनका आशीर्वाद, उनका पुष्प और रज-प्रसाद अनेकों की व्याधि-हरण का कारण बन जाता था। यह सब उनके तपोमय भूमा जीवन का ही प्रभाव कहा जा सकता है।

अपनी अपार यौगिक शक्ति और सामर्थ्य का प्रदर्शन या दिखावा करना उन्हें कभी पसन्द नहीं आया। न वे अपनी या अपने आश्रम की प्रसिद्धि के लिए उस विज्ञापनी कला को अपनाना रुचिकर समझते थे जिसको अपना कर न कुछ होते हुए भी अनेक अर्थ-लोलुप अपने को 'सब कुछ' बताने का ढोंग रचा करते हैं। अपनी प्रशंसा और कीर्ति को सुनना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था, यदि किसी साधक ने भावावेश में ऐसी कोई चर्चा करने का उपक्रम भी किया तो वे उसे अनसुना-सा करके इसे अपने गुरुदेव महाप्रभुजी की कृपा बताकर वक्ता के उपक्रम का समापन कर देते थे। वे गोस्वामी तुलसीदासजी के कथनानुसार "मान बड़ाई ईर्षा तुलसी दुर्लभ गेह" की जीवन्त और दुर्लभ-सी प्रतिमा थे।

कौन जानता था कि अपनी माता की गोदी में विहरने वाला आज का यह बालक आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रिय ख्याति का 'सिद्धयोगी' होगा और उत्तर-भारत के आगरा जनपद के गाँव सबाई में स्थित अपने गुरुदेव की साधना कुटी को सुविख्यात 'योग-साधना सिद्धपीठ' के रूप में परिवर्तित कर देने का कारण बनेगा?

सबाई की यह सिद्धपीठ लाखों-लाखों व्यक्तियों को योगदीक्षा प्रदान करने की पुण्यस्थली बनेगी और उस दिन की विजयादशमी की घड़ी में जन्मा यह बालयोगी ही अपने गुरुदेव के हिमालय गमन के उपरान्त कालान्तर में सिद्धयोगी की ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त करके अनगिनती दीक्षार्थियों का दीक्षा-गुरु बनेगा इसे भी तब कितनों ने जाना होगा? भविष्य की झोली में इस महायोगी के जीवन का यह घटनाक्रम निश्चित ही अज्ञात रूप में पड़ा रहा होगा। किन्तु इस सबको जानने और परखने वाला शायद ही तब कोई रहा हो? इस महायोगी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि साहस, शौर्य, शालीनता, सद्भाव सहजता एवं तप तेज, करुणा और उदारता सभी दैवीगुणों का दर्शन दर्शकों को स्पष्ट-रूपेण हर क्षण इनके व्यक्तित्व में होता रहता था। लोभ-मोह क्रोध और अहं कभी इनकी साधुता की सीमा रेखाओं को छू नहीं पाते थे। कल्याणी-वाणी सत्य बोहित ही नहीं किन्तु सदा माधुर्य से ओत-प्रोत रहती थी। अपने लाखों शिष्यों की कल्याण भावना से उनका हृदय सदा भरा-पूरा बना रहता था, लेकिन महायोगी की जन्म की उन घड़ियों में किसे

मालूम था तब कि वह शिशु अपने देवत्व के सभी दिव्य गुणों की अपनी पूंजी अपने साथ लेकर आया है जो समय और निमित्त पाकर यथा समय विकसित होती रहेगी ? और हुआ भी यही । जन्म कर्म च मे दिव्यं के अनुसार उनके जीवन का यह सभी रहस्य तब सब के लिए अज्ञात-सा रहस्य ही तो बना रहा था । काल-क्रम की मर्यादा की गांठ ज्यों-ज्यों खुलती गई गुरुदेव के उदात्त जीवन की अलौकिक लीलायें और उनके गुण समूह उजागर होकर सबके सामने आते गये ।

ऐसे खुले हुए रहे उनकी जीवन-पोथी के पृष्ठ, जिन्हें हर कोई बिना किसी कठिनाई के पढ़ और समझ सकता था । कहीं कुछ कूटस्थ और अनिर्वचनीय पाठ उनकी अपनी जीवन-पोथी में आ ही नहीं । आज भी उनके चारु-चरित्र के स्वर्णिम पृष्ठ हमारे सबके सामने खुले हुए पड़े हैं जो हम सबको अतिशय कल्याणदायक हो सकते हैं तब जब कि हम उन्हें पढ़ने, समझने और मनन करने का प्रयास करें । हमारे स्वाध्याय के लिए उस महायोगी ने अलूपुर के ग्रामीण वातावरण में अवतरित होकर काल के विविध आयामों को लाँघते हुए अपनी जीवन-पोथी को हम सबके अनुशीलन और मार्ग-दर्शन के लिए ही छोड़ा है । यही उनकी ऐसी धरोहर है जिसकी रक्षा और व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए हम सब को सतत् जागरूक रहने की आवश्यकता है । योग सिद्धान्तों को लोक-कल्याण के लिए यदि हम सब इसे जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते, न स्वयं सिद्धयोग की मर्यादाओं का पालन कर पाते हैं तो कैसे हम कह पायेंगे कि हम महायोगी प्रभु रामलालजी की शिष्य परम्परा की एक कड़ी हैं और कैसे किस मुँह से हम बता सकेंगे दूसरों को कि सवाई धाम के सिद्धयोगी श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने हमें स्वमुख से दीक्षा देकर स्वयं महाप्रभुजी की शिष्य परम्परा से हमें एक कड़ी के रूप में जोड़ने की कृपा की थी ।

'विजय दशमी' को गुरुदेव के अवतरण की पावन घड़ियाँ हम सबको अपना यही सन्देश दुहराने को प्रति वर्ष आया करती हैं कि इस विनाशी और क्षणभंगुर जीवन को लेकर हम यहाँ संकुचित स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं आये है, बल्कि आये हैं हम सभी एक सिद्धयोगी के चारु-चरित्र से अपना योगी-जीवन निर्माण करने के लिए—और आये हैं केवल इसलिए कि हम भी अपने आदर्श गुरुदेव की आध्यात्मिक सम्पदा को लोक-कल्याण हेतु सेवापरायण रहकर उसकी रक्षा करते रहें । ऐसा करके ही गुरुदेव नमामि का हमारा घोष सार्थक हो सकेगा ।

—सम्पादक

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । —योगसूत्र 1/33

पतञ्जलि ने 'योगसूत्र' में यह कहकर कि 'चार प्रकार की भावना करोगे तो चित्त प्रसन्न रहेगा'—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा । ये चार प्रकार बताये हैं । दुःखी जनों के लिए करुणा, सुखी जनों के साथ मैत्री, पुण्यवानों को देखकर आनन्द या प्रेम और पापियों की उपेक्षा यानी दूसरों के पाप की तरफ ध्यान न देना ।

सारांश—सुख, दुःख, पाप, पुण्य ये चार विषय बताकर उनके लिए चार प्रकार की भावनाएँ करने पर चित्त प्रसन्न होगा । ऐसा महर्षि पतञ्जलि का मत है ।

□ श्री देवीप्रसाद शर्मा दिव्य

'स संन्यासी च योगी च'

भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को प्रतिवर्ष भारतवर्ष में सर्वत्र ही ब्रज प्रदेश में अवतरित विश्व-वैभव भगवान् श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव घर-घर में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में एक अति पावन महोत्सव के रूप में मनाया जाता है। जिस हर्ष और उल्लास के साथ वयस्क और अवयस्क नर-नारी इस महोत्सव को मनाया करते हैं, जिस उमंग और उछंग में भरकर लोग उनकी कीर्ति-कथाओं का कथन, श्रवण-मनन और मंथन करते हैं उनके नाम-स्मरण के लिए जिस ढंग से उपवास, व्रत, जप-तप ध्यानपूर्वक उनके द्वारा प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उन्हें आत्मसात करने का उपक्रम करते हैं, इस सबके देखने और विचारने से जन-साधारण में व्याप्त इस मान्यता को असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत होता है कि वसुदेव-नन्दन श्री कृष्णचन्द्र अपने समय के ऐसे युग-पुरुष थे जिन्होंने योगी जीवन के परिमार्जन और परिष्कार के लिए, धर्म साधना में बाधक बने हुए आसुरी वृत्ति के आतंकवादियों के विनाश के लिए, अपहृत की गई बहू-बेटियों के उद्धार के लिए तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले जनसमुदाय के लिए मानुषी-पौरुष को नये नैतिक और धार्मिक आयाम दिये।

नैतिक जीवन के लिए धर्मनीति-राजनीति और राज्य-संचालन हेतु कूटनीति की युग-परिवर्तनकारी व्यवस्थायें ही इन्होंने प्रस्तुत नहीं की किन्तु इन सबको, सबके क्रिया-कलापों में भी प्रतिष्ठापित करने-कराने का भी सत्परामर्श दिया। 'रण क्षेत्र' में अर्जुन की युद्ध न करने की क्लीवता की मनोदशा को दूर करने का जो उपदेश उन्होंने दिया वह ऐसा अमर अनुपम उपदेश है—जिसकी समानता में अन्य कोई उपदेश संसार के दूसरे देशों के इतिहास-पृष्ठों में हमें खोजने पर भी नहीं मिलता। कुछ लोगों का कहना कि कुरु-क्षेत्र में हुआ युद्ध और श्रीकृष्ण का उपदेश कल्पना मात्र है ऐतिहासिक तथ्य नहीं, यदि इस कथन को भी मान लिया तो भी हम बिना किसी संकोच के यह कहना चाहेंगे कि इस प्रकार की कल्पना भी अनुपम है और ऐसी आदर्श कल्पना संसार के किसी भी भाषा-साहित्य में हमें देखने या पढ़ने को नहीं मिलती।

भारतीय जीवन और संस्कृति का आधार वेद एवं उपनिषद् ही रहे हैं। जगदात्मा श्रीकृष्ण द्वारा उपदेशित जीवन-सिद्धान्त, वेदों और उपनिषदों का ही तत्व बताया गया है, इसीलिए इसे 'सर्वज्ञानमयी शास्त्र भी कहा गया है। मानव जीवन को उच्चतम् भूमिका पर ले जाने के जो निरापद सहज और स्वाभाविक उपाय गीता शास्त्र में बताये गये हैं उनके समान या श्रेष्ठ अन्यत्र कहीं कुछ है ही नहीं। 'न अन्य पंथा विद्यते अयनाय' यानी कोई भी जीवन-विद्या ऐसी नहीं है जो गीता के प्रतिपादित सिद्धान्तों से अलग होकर मानव के कल्याणार्थ मार्ग-दर्शक बन सके। कर्मफल त्याग की साधना को क्रियात्मक रूप देना ही भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि में सबसे बड़ी पूजा और सबसे बड़ा धर्म रहा है। उन्होंने निष्क्रिय होकर बैठ जाने या संन्यासी अथवा योगी के परिवेश धारण कर लेने मात्र को मान्यता नहीं दी है बल्कि मान्यता दी है उन्होंने कर्मफल त्याग की भावना को अपनाकर कर्मरत बने रहने को। उन्होंने बिना किसी संकोच और दुविधा के अर्जुन के माध्यम से संसार के मनुष्यों को स्पष्ट शब्दों में कहा है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन: —गीता 2/47

लोगो सुनो ! तुम्हारा अधिकार कर्म करने तक ही मर्यादित है कर्म के फल पर तुम्हें कोई अधिकार नहीं। उन्होंने ज्ञान मार्ग कर्ममार्ग, और भक्ति मार्ग तीनों ही पथों से गुजरने वाले साधकों को कर्म को अनासक्त भाव से करने का परामर्श दिया है। पढ़िये गीता में उनके अभिमत को :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

—गीता 6/1

जिसने कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्म करते रहने की प्र_ति बना ली है वही कहा जाता है निराश्रित। संन्यासी का अर्थ होता है त्याग। घर-द्वार और अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़ने वाले ही संन्यासी नहीं होते किन्तु संन्यासी या योगी सच्चे अर्थों में वे ही होते हैं जो कर्मफल का विसर्जन करके ही उसके सम्पादन में सहज भाव से मनोयोग पूर्वक जुट जाते हैं।

आज हमारे देश के निवासियों के जीवन-मूल्यों में जो असीमित-सी गिरावट आयी है उसका एक मात्र कारण यही है कि हम अनाश्रित होकर किसी काम को करना ही नहीं चाहते ? अपनी फलेच्छा की तीव्र लालसा की पूर्ति के प्रत्यक्ष चिह्न देख और समझ-कर ही हम किसी काम को करने के आदी हो गये हैं। दुनिया के दूसरे कामों को छोड़

दीजिए, भगवान् का भजन और देवों की जय-जयकार भी हमारे बहुसंख्यक देशवासी तभी करना चाहते हैं जब वे इस दिशा में किये जाने वाले अपने प्रयासों के फल-लाभ को अपनी समझ की तराजू में-अपने बाँटों से तौलकर बखूबी जान लेते हैं कि मिलने वाले लाभांश का पलड़ा हमारी मंशा के अनुकूल भारी है या नहीं ? चाहे राजनीति या लोक-नीति या धर्मनीति का अनुसरण हो-सर्वत्र हमारी यही इच्छा प्रबल रहती है कि इन दिशाओं में बढ़ने से हमें क्या कितना फायदा होगा ? बिना समुचित लाभांश की कल्पना के हमारी कोई कार्य-योजना अपना मूर्तरूप ही नहीं ले पाती। युग पुरुषों के मानव निर्माण की सारी उद्घोषणायें उनकी सारी मान्यतायें और सिद्धान्त हमारे अपने लाभ-लोभ की लालसा के विशाल-जाल में उलझ कर ही रह जाती है।

धार्मिक मान्यताओं के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने वाले आचार्यों के आश्रम और विद्यालय एवं गुरुकुल आदि संस्थायें भी अपने लक्ष्य से भटककर 'अनाश्रितः कर्म करोति यः' जैसे साधकों के अभाव में, लाभ-लोभ की लालसा से काम करने वाले वेषधारी साधकों के कुचक्र में फँसकर अपने मुख्य ध्येय से भटक जाती हैं। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के अवतरण का पावन दिवस जन्माष्टमी हमें हर वर्ष उनका यही दिव्य सन्देश देने आती है कि :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

ज्ञान का उपयोग

श्री डा० जे० पी० अवस्थी

□ सच्चाई तो यह है कि ज्ञान दिया नहीं जा सकता है, ज्ञान हो जाता है। परन्तु ज्ञान उसी को हो जाता है जिसमें ग्राहकता होती है। वर्षा सर्वत्र होती है परन्तु अंकुर उत्पन्न वहीं होता है जहाँ भूमि में उर्वरकता होती है। भूमि की उर्वरकता के समान ही मानवी चेतना में ग्राहकता का तथ्य होता है। परन्तु जिस प्रकार उर्वरकता विशेष प्रकार के रासायनिक तत्वों का परिणाम होता है उसी प्रकार ज्ञान-ग्राहकता विशेष प्रकार के अनुकूल संस्कारों का परिणाम होती है। अस्तु, किस को कब, कितना ज्ञान हो जायगा इसका भविष्य कथन नहीं किया जा सकता है। फिर भी मानव समाज में ज्ञान को वितरित करने की प्रक्रिया चलती ही रहती है, क्योंकि इससे ज्ञान की ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ सुरक्षित रहती हैं। अस्तु, ज्ञान के सम्बन्ध में यह भी स्थापित किया जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को प्रत्येक व्यक्ति पचा भी नहीं सकता है। अतः ज्ञानदाता का कर्त्तव्य है कि वह पात्रानुसार ज्ञान दान करे अन्यथा ज्ञान वितरण केवल कहने-सुनने का विषय हो जाता है और ज्ञान के मर्म को न समझने वाले इसके विपरीत विद्रोह खड़ा करते हैं या आडम्बर फैलाते हैं और कलाकार मानो ज्ञान को व्यापारिक वस्तु बना डालते हैं। □

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' ॥

प्रजापति का एक अक्षरीय उपदेश

द—द—द

ये तीन अक्षर ही प्रजापति के महान् उपदेश हैं। कोई एक-देशीय शास्त्र इन्हें कहने के लिए नहीं चाहिए—सब देशों और कालों में व्योम के प्रशस्त उदर में इन तीन अक्षरों का नाद भरा रहता है। मेघ-ध्वनि समय-समय पर इनकी व्यञ्जना किया करती है। इन संकेतों के अर्थों को हम जब चाहें, जहाँ चाहें, सुन सकते हैं। व्यक्ति की शान्ति भी इन्हीं अर्थों पर निर्भर है।

देव, असुर और मनुष्य किसी लोक-विशेष में नहीं, यहीं पर मिलने वाली वृत्तियों के भेद हैं। देव, असुर और मनुष्यों के लिए एक ही सृष्टि प्रजापति ने बनाई है, एक ही नियम है, एक ही परिणाम वाले सुख-दुःखादि भोग हैं। इसलिए दैवी वाक् भी एक ही है, परन्तु रुचि-वैचित्र्य से अर्थों में भेद कर लिया जाता है—

द—दाम्यत

देवों के लिए एक ही अनुशासन है—आत्म-शासन करो। ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-जय, साधनाएँ सब इसी के विस्तार हैं। व्यक्ति के जीवन के ये शाश्वत मन्त्र हैं। जहाँ प्रथम 'द' के अर्थों में जागरूक श्रद्धा रहती है, वहीं शान्ति ध्रुव रूपेण विराजती है। जब भी कभी हम आत्मिक शान्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, प्रजापति के प्रथम उपदेश को जानना ही पड़ेगा।

असुरों के लिए प्रजापति की वाक् क्या कहती है—

द—दयध्वम्

दया की उपासना करो। हिंस्र-प्रवृत्तियों का दमन करो, रक्त-पिपासा का संयम करो। हिंसा-युद्ध भीषण अशान्ति के कारण हैं। आज तो चारों ओर लड़ाई की भेरी बज रही है। दाँत पीस-पीस कर सैनिक जंग के लिए कमर कस रहे हैं। एक

हाथ में नंगी तलवार लेकर मुख से शान्ति का मन्त्र उच्चारण करने से शान्ति कभी होगी ? सच्ची शान्ति के लिए प्रजापति के अर्थों को समझना ही पड़ेगा। इस उपदेश को हम चाहे, आज सुनें, चाहे दस वर्ष बाद सुनें, पर इसको बिना सुने गति नहीं।

समाज की जो विषमताएं है, जिनके कारण पारस्परिक कलह मचा हुआ है, इनको दूर करने का यदि कोई उपाय है, तो प्रजापति का तीसरा उपदेश—

द—दत्त

दान दो, बाँट कर खाओ, संचय मत करो, वितरण का पाठ पढ़ो। धन और उपयोग की सामग्री सबको प्रिय लगने वाली है। उनको अपने लिए ही चाहना स्वार्थ है। सब के साथ बांट कर उसको भोग करना सुख-मूलक है। पूंजीपति और मजदूरों के झगड़े की बुनियाद क्या है, जमींदार और किसान का संघर्ष क्यों है, धनिकों में आपस में रगड़ा क्यों है ? इसलिए कि सब अकेले ही धन का भोग चाहते हैं। दान-यज्ञ की भावना नष्ट हो गई है। मनुष्य जब तक उदार हृदय से धन का व्यवहार करते हैं, शान्ति से फूलते-फलते हैं। वे ही जब आपस-धापा मचाते हैं, तब अशान्ति उत्पन्न होती है। समाज की व्यवस्था चाहे जैसी बनाइए, केवल उसी से पारस्परिक द्वन्द्व नहीं मिट सकता। मनुष्यों के हृदयों में औदार्य होना चाहिए।

जैसे शस्त्रों की सीमा बांधने से युद्ध की शान्ति नहीं हो सकती, उसके लिए "दयध्वम्" की भावना चाहिए। ठीक वैसे ही व्यक्ति के धन की सीमा बनाने से आर्थिक शान्ति नहीं हो सकती, उसके लिए मनुष्यों में बांटकर खाने का भाव या उदार आशयता होनी चाहिए।

प्रजापति विश्वव्यापी शक्ति है, उसकी वाक् भी विश्वव्यापी है। उस वाक् के संकेत दम, दया और दान भी सब देश और सब कालों के लिए हैं।

द—दाम्यत
द—दयध्वम
द—दत्त। (ऊर्द्ध ज्योति से साभार)

☐ सच्ची पवित्रता जितनी विनम्र स्वभाव, प्रसन्न चित्त, हर्षोत्फुल्ल मुख से माधुर्य में और हृदय की उदारता में है, उतनी पूजापाठ आदि कर्मकाण्ड और कोरी तपश्चर्या में नहीं मिलती। —संहुताम में एक पथिक

श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा रोवर (दिल्ली)

योग से क्रोध शमन

[पढ़िए आचार्य प्रवर के इस लेख में क्रोध शमन के सहज उपाय और उनका सुफल। —सम्पादक]

बाहर रहने वाले शत्रु मौका पाकर हमारी हानि करते हैं, किन्तु हमारे अन्दर रहने वाले काम, क्रोध और लोभ सदा हमारी शक्ति को कमजोर करते रहते हैं। श्रीमद् भगवद् गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में साधक को सावधान कर दिया है कि काम, क्रोध और लोभ ये तीनों ही नरक को ले जाने वाले द्वार हैं। इनमें घनिष्ठ मित्रता है। तीनों सहोदर भाई की तरह सदा साथ-साथ रहते हैं। एक कहीं हो तो दूसरे को भी बुला लेता है। ये तीनों मिलकर आत्मा नहीं जीवात्मा का नाश कर देते हैं। इसलिए आत्मकल्याण चाहने वाले साधक को सबसे पहले इनसे मुक्त होना चाहिये।[1] मोह से भी हानि होती है। राग-द्वेष से भी हानि होती है। यद्यपि ये सभी आसुरी सम्पत्तियाँ हैं; तथापि इनसे सर्वस्व नाश नहीं हो पाता। जिस प्रकार बाढ़ आ जाने पर कुछ बचा लिया जा सकता है। आग लगने पर उपाय से कुछ बचाया जा सकता है। किन्तु क्रोध से कुछ भी नहीं बचता। बुद्धि, बल, विवेक, संयम श्रद्धा, शील, सदाचार, नम्रता सब कुछ एकबारगी स्वाहा हो जाता है।

इसलिए क्रोध को दुर्जय रिपु कहा गया है। यह शत्रु सतत् सद्गुरु सेवा से और वैराग्य साधना से शनैः-शनैः परास्त होता होता है। जिन्हें इस प्रकार का सौभाग्य नहीं मिल पाता उन्हें यह शत्रु परास्त कर देता है। नारद जैसे सदा प्रभु गुणगान में लवलीन रहने वाले देवर्षि क्रोध के वशीभूत होकर अपने आराध्य भगवान विष्णु को ही शाप दे देते हैं तो फिर अपने आपको विद्वान, गुणवान तथा साधक शिरोमणि समझने वाले पामर जीवों की गिनती किसमें है। गोस्वामी तुलसीदास ने वर्षाऋतु वर्णन प्रसंग में विरोधाभास शैली में क्रोध के सम्बन्ध में बहुत रहस्यपूर्ण बात कही है। वर्षाऋतु में चारों ओर जल ही जल ही व्याप्त होने से खोजने पर कहीं धूल (रज) नहीं मिलती। जिस प्रकार क्रोध आने पर धर्म का कहीं नामो निशान नहीं रह पाता। क्रोध धर्म को दूर भगा देता है।[2]

धर्म का सामान्य अर्थ प्रकृति, शील और

---

1. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथालोभः तस्मादेतद् त्रयंत्यजेत् —गीता
2. खोजत कतहुं मिलहि नहि धूरी। करहि क्रोध जिमि धर्महि दूरी॥ —मानस

ईश्वर का समन्वय ज्ञान और तदनुकूल परस्पर व्यवहार है। विशेष अर्थों में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये पाँच योग के धर्म हैं। क्रोध में प्राणशक्ति क्षुब्ध होने से, वाणी से कठोर वचन निकलते हैं। वायु की कमी से अग्नि मन्द होने के कारण भूख मारी जाती है। पित्त की मात्रा बढ़ जाती है। जिससे शरीर में अल्सर, दाद, खुजली, ब्लडप्रेसर जैसे-रोग घर कर जाते हैं। कफ शुष्क होने से नींद की कमी हो जाती है। पीलिया होने लगता है। रक्त में श्वेतकण कम होने लगते हैं। रक्त गाढ़ा हो जाता है। दाँती भिच जाती है। मुट्ठी बंधने लगती है। शरीर काँपने लगता है। पसीना आने लगता है। बुद्धि की चिन्तन शक्ति क्षीण पड़ जाती है। बेचैनी बढ़ती जाती है। विवेक नष्ट हो जाता है। हत्या, बलात्कार, आत्महत्या आदि नारकीय कर्म क्रोध की अवस्था में ही होते हैं। क्रोध शीघ्र शान्त नहीं होता। क्रोध का पिता काम है और उसका बेटा है मोह, भ्रम आदि। काम, क्रोध, लोभ मोह सभी का जन्म रजोगुण की अधिकता से होता है।[1] वर्षा में तो रज के कहीं दर्शन नहीं होते क्योंकि सर्वत्र जलवृष्टि से गीलापन ही दिखायी पड़ता है परन्तु रजोगुण से उत्पन्न क्रोध सतोगुण से प्रादुर्भूत धर्म को ही लुप्त कर देता है। यह बड़ी विचित्र बात है।

क्रोध का जन्म काम से होता है। जिनमें कामभाव प्रबल होगा, उनमें क्रोध भी प्रबल होगा।[2] विषय का चिन्तन करने पर उसके प्रति लोभ उत्पन्न होता है। लोभ से मन उसकी ओर दौड़ता है। जिधर मन जाता है, उधर प्राण भी जाते हैं। विषयोन्मुख मन की दौड़ में कोई बाधक तत्व आ जाय तो उस पर क्रोध होता है। इसलिए प्राणायाम के द्वारा विषयाकार चित्तवृत्ति को हटाकर आनन्दाकार, प्रणवाकार, भगवदाकार या अममहकभाव अथवा स्वरूपाकार, बनाये बिना कामभाव जा नहीं सकता। सन्त तुलसी दास कहते हैं—

जहाँ काम तहाँ राम नहिं,
जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँकि रहि सकै,
रवि रजनी इक ठाम॥

जैसे दूध को जल के साथ रखने पर दूध जलमय हो जाता है किन्तु उसे मथकर उसके मक्खन को जल में रखने पर मक्खन जल से अलग बना रहता है उसी प्रकार मन को प्राणायाम से एकाग्र करके ब्रह्माकार चित्तवृत्ति ध्यानयोग द्वारा बन जाने पर विषय संग से काम और क्रोध का जन्म नहीं होता। योगी, सर्वत्र सम-दर्शन करने लगता है। 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिन' के नियमानुसार जब सर्वत्र आत्म को ही व्याप्त देखता है तो कहीं भी दूसरा दिखाई नहीं पड़ता। जब द्वैत ही नहीं तो क्रोध किस पर होगा। अपना ही दाँत जब अपनी जीभ को काट देता है तो कभी क्रोध नहीं आता, क्योंकि दाँत भी अपना और जीभ अपनी। दाँत और जीभ दोनों में अपनेपन का भाव समान रूप से होने के कारण क्रोध का जन्म नहीं होता। समभाव की स्थिति निरन्तर तीव्र अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्राप्त की जा सकती है। प्राणायाम के अभ्यास से मन सत्वभावापन्न होकर ईश्वराभिमुखी हो जाता है। यही जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था

1. काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् —गीता 3/37
2. संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥ —गीता 2/62

जीवात्मा-परमात्मनोः । स्वाध्याय परायण साधक हेय और उपादेय का विवेक प्राप्त करते हुए समाधि की भूमिका में स्थित हो जाता है। प्राणवायु मस्तक में आज्ञाचक्र स्थान पर पहुँचकर मन को ऊर्ध्वगामी बना देती है जिससे मन नीचे के केन्द्रों पर नहीं रह जाता। तमोगुण और रजोगुण अल्प हो जाते हैं। सतोगुण की वृद्धि हो जाती है तो काम, क्रोध स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। प्राणायाम के बल से ब्रह्मनाड़ी में प्राण प्रवेश करने पर बाह्य विषय प्रवृत्ति स्वतः कम हो जाती है। अन्दर का द्वार जब तक बन्द है तब तक यह मन रूपी बालक बाहर दौड़ लगाना चाहता है। जैसे ही सुषुम्ना के अन्दर ब्रह्मनाड़ी का द्वार खुलता है वैसे ही मन भाग दौड़ छोड़कर शमन हो जाता है। गुणों का गुणों में अवस्थान होने के कारण साम्यभाव आ जाता है। स्थिर मन में न काम होगा न क्रोध होगा। जब साधना के द्वारा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आत्माभिमुखी कर दिये जायेंगे तो उनमें आत्मरस के अतिरिक्त विषय रस कहाँ से भासित होगा ?

साधक को क्रोध के महाराक्षस से अपनी सदा रक्षा करनी चाहिये। सात्विक आहार, सात्विक विचार तथा वाणी संयम क्रोध की अमोघ औषधि है। क्रोध अपने सहचर के रूप में अहंकार को साथ रखता है। क्रोधी अहंकारी भी होता है। दया, क्षमा तथा निरभिमानिता के रहते क्रोध कहाँ टिकेगा। यदि समय रहते क्रोध पर काबू न किया तो यह सबसे पहले अपने हृदय को ही दग्ध कर देगा फिर अपने परिवार की सुख शान्ति का होलिका-दहन करेगा, आसपास शत्रुओं की फौज खड़ी करते देर नहीं लगेगी। रोगों को आने में देर नहीं लगेगी। आँखें लाल हो जायगी। अपना चेहरा ऐसा विकृत और भयानक हो जायगा कि शीशे में उसे देखते ही भय लगने लगेगा। क्रोधी को उसका मुख दर्पण में दिखा दे तो वह काफूर हो जायगा। जो लोग अफीम गाँजा, भाँग, शराब बीड़ी तम्बाकू, चाय या प्याज, लहसुन, बासी तामसिक भोजन माँस आदि का सेवन करते हैं उनके प्राण अधिक चंचल रहते हैं जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें अपेक्षाकृत अधिक क्रोध आता है। पित्त बढ़ाने वाला भोजन भी क्रोध का कारण बनता है। जैसे मिर्च, मसाले चट-पटे पदार्थ या अधिक गर्म भोजन करने वाले व्यक्ति को और लोगों की अपेक्षा अधिक क्रोध आता है। अपनी कुत्सित वृत्तियों को छिपा-कर सदाचार का ढोंग करने वाले लोगों में भी क्रोध अधिक आता है जो अधिक भोजन भट्ट यानी पेटू होता है वे कामी अवश्य होंगे। क्योंकि जननेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय दोनों ही जलतत्व से बनी हैं। एक के जीतने से दोनों जीत ली जाती हैं। कम बोलना और कम खाना काम क्रोध को कम करते हैं। अनुभवी महापुरुषों का ऐसा अनुभव है कि जो लोग जल्दी-जल्दी भोजन करते हैं वे उतने ही कामी और क्रोधी होते हैं। खूब चबाचबाकर भोजन को पेय बनाकर उदरस्थ करने से क्रोध नहीं रहता। काम ऊर्जा रसनेन्द्रिय की लसिका ग्रन्थियों के द्वारा खूब चबाचबाकर भोजन करने पर भोजन में मिलकर क्रोध को शान्त कर देती है। क्रोध आने पर मुट्ठी

बोधना स्वाभाविक क्रिया है। हमारा अंगुष्ठ विवेक और ज्ञान का केन्द्र है। क्रोध आने पर अंगूठे को मुट्ठी में तर्जनी अंगुली द्वारा कसकर दबाकर रखने से क्रोध का उद्वेग शीघ्र शान्त हो जायेगा। क्रोध आने पर पित्त कुपित हो उठता है अतः उसकी शान्ति के लिए ठंडा दो गिलास जल पिलाने से क्रोध भी ठंडा हो जाता है। रात्रि के समय तर्जनी अंगुली से दोनों कानों को बन्दकर भौरें के गुंजार की तरह ॐ ध्वनि सुनने के अभ्यास से मन स्थिर होता है और बात-बात पर क्रोध आने का स्वभाव बदल जायेगा। सामने देखते हुए पीछे तरफ चलने का अभ्यास करने से भी क्रोध दूर किया जा सकता है।

किसी भी उपाय से सही, क्रोध रूपी शत्रु को जीतना प्रत्येक साधक को परमावश्यक है। अन्यथा क्रोध सर्वनाश का कारण बनेगा। बुद्धचरित में कहा गया है कि :

धर्मं यशश्च रूपञ्च गुणान ज्ञानं च वैभवम् ।
सर्वं नाशयति क्रोधो नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥
26/52

क्रोध यश धर्म, रूप, गुण, ज्ञान तथा धन वैभव सभी का सर्वनाश कर देता है। क्रोध से बढ़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है।

□

सत्कर्म ही धर्म है

धर्म कार्यान्वित जीवन है। जीवन में जो कुछ है, जो कुछ भी सार है, वही धर्म है। धर्म केवल आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित करने वाला ही तत्त्व नहीं है, बल्कि हमारे सभी कर्म, सभी व्यवहार, शील, करुणा, दया, स्नेह, त्याग, तप, तितिक्षा आदि धर्म आधारित ही होते हैं और धर्म के ही सहारे सभी मानव व्यापार चलते रहते हैं तथा सभी मानव-वृत्तियां अपना कार्य ठीक-ठीक करती हैं। केवल यही एक ऐसा मार्ग है, जहां हम सब एक हो जाते हैं और सभी मानव-जाति को एक ही रंग में रंगा हुआ और एक ही सूत्र में सबको बंधा हुआ देखते हैं।

धर्म ही संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। यह मनुष्य के महत्त्व और कीर्ति को पराकाष्ठा तक पहुंचाता है। धर्म करने वाले को इस जगत में अर्थ और सुख तो मिलता ही है, साथ ही परलोक में भी अभ्युदय और इष्ट की प्राप्ति होती है तथा अन्त में मोक्ष-लाभ होता है।

—श्रुतिसार

सात्विक आहार पर गीता-विचार

आयुः-सत्व-बलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥

इस श्लोक में आहारविषयक 10 बातें बतायी हैं :—1. आयुवर्धक, 2. सत्ववर्धक, 3. स्वास्थ्यप्रद, 4. सुख और 5. प्रेम बढ़ाने वाला, 6. रसयुक्त, 7. स्निग्ध, 8. पाचक, 9. आत्मसात् होकर जीवन-शक्ति बढ़ाने वाला, 10. ऐसा आहार सात्विक पुरुषों को प्रिय होता है।

(1) आयु—आहार आयुवर्धक होना चाहिए। भगवान् ने यह शरीर पैदा किया है, उसकी आयु मर्यादा विविध रूप से दिखाई देती है। लम्बी आयु सिर्फ आहार पर ही नहीं और भी कई बातों पर निर्भर करती है। फिर भी आयु के लिए आहार मुख्य चीज है।

(2) सत्वबल—आहार सत्व यानी अन्तःकरण की शक्ति बढ़ाने वाला हो। उससे मनोबल दिनोंदिन बढ़ाना चाहिए। सिर्फ शरीर का बल बढ़ता रहे और मन का नहीं, तो शरीर बल का बढ़ना निरर्थक होगा। क्योंकि सुख-दुःख, बन्ध, मोक्ष आदि का आधार मन ही है। शरीर तो मन शुद्ध करने का साधन है। जब तक मन शुद्ध नहीं होता, तब तक शान्ति के अनुभव की सम्भावना नहीं और शान्ति न रहे तो शरीर का बल बेकार है। इसलिए आहार ऐसा होना चाहिए कि मन की शुद्धि में वृद्धि हो। बहुत गरिष्ठ आहार हो तो मन में जड़ता और विकार पैदा होंगे। ज्यादा परिमाण में आहार लिया जाय तो भी विकार पैदा होते हैं।

(3) आरोग्य—आहार स्वास्थ्यप्रद हो। स्वास्थ्य ही शरीर का बल है। स्वास्थ्य के बिना मनोबल भी नहीं बढ़ता। स्वास्थ्य उत्तम रखने के लिए आहार शास्त्र को ठीक-ठीक समझना जरूरी है। आहार शास्त्र के अध्ययन से शरीर के लिए किन चीजों के कितने परिमाण में जरूरत है, यह यथार्थ रूप से मालूम हो जाता है। इस विषय की किताबें पढ़नी चाहिए।

(4) सुख—आहार सुख बढ़ाने वाला होना चाहिए। इसका अर्थ तात्कालिक सुख बढ़ाने वाला नहीं है। तेज मसालेदार हो तो तात्कालिक सुख मिल सकता है। खाते समय आनन्द होगा, लेकिन बाद में पेट भारी हो जायगा तो वह सुख खतम हो जायगा। सुख कायम रहे, ऐसा आहार करना चाहिए। आहार रुचिकर तो बनाना ही चाहिए, लेकिन चटकीला नहीं। शक्कर, गुड़, मसाला, घी, तेल, इन चीजों का समुचित मात्रा में उपयोग किया जाय तो आहार स्वादयुक्त होते हुए भी शरीर को बिगाड़ने वाला न होने से उससे जो सुख पैदा होगा, वह हमेशा बना रहेगा।

प्रीतिविवर्धना—आहार प्रेम बढ़ाने वाला होना चाहिए। जो लोग चटकीली चीजें खाते हैं, उनके स्वभाव में भी राजसिकता आ जाती है। जैसा आहार विकार वर्द्धक होता

है, स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। काम-विकार भी बढ़ने लगता है। विकार बढ़ने से सबके साथ विशुद्ध प्रेम का व्यवहार नहीं हो पाता। इसलिए प्रेम का उत्कर्ष हो ऐसा आहार होना चाहिए।

(6) रस्याः—आहार रसयुक्त यानी जीवनतत्त्व (विटामिन) से युक्त होना चाहिए। विटामिनों की जानकारी के लिए आहार-विषयक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। इस दृष्टि से प्राकृतिक चिकित्सा-विषयक साहित्य उपयोगी है।

(7) स्निग्धाः—स्निग्ध यानी घी, तेल, मक्खन से युक्त। आहार में स्नेह बहुत जरूरी है। कैलशियम को शरीर में आत्मसात् करने के लिए घी, तेल या मक्खन की आवश्यकता है। तेल की अपेक्षा मक्खन या घी लाभदायक है। आंतों की भीतर की त्वचा, शरीर की अन्तस्त्वचा घी, तेल, मक्खन से नीरोग रहती है। यदि तेल, घी या मक्खन शरीर में न जाय तो शरीर की भीतरी त्वचा रूक्ष हो जायगी, सूख जायगी। उसमें जख्म होने की सम्भावना रहती है। हम खाना खाते हैं। वह सारा जब भीतर जाता है तो उसका अन्तस्त्वचा के साथ सम्बन्ध आता है। खाने में खटाई रहती है। कुछ चीजें तीखी भी रहती हैं। ये तीव्र चीजें अन्तस्त्वचा को तकलीफ न पहुँचायें, जख्म न करें, यह जरूरी है। खुराक में चर्बी का अंश हो तो भीतर की त्वचा नरम रहेगी और वह अच्छी स्थिति में रहेगी। हमारे भोजन में आमाशय ही मुख्य रहता है। वह अपना काम में जख्म पैदा न करे, इसके लिए भोजन में थोड़े परिमाण में स्नेह जरूरी है। रूक्ष-निवारण के लिए भी स्नेह आवश्यक है।

(8) स्थिराः—स्थिर यानी पचने में आसान। आहार में दो गुण होने चाहिए कि अन्न पोषक तत्त्व हों और हजम होने में आसान हों। मिष्ठान्न देर में हजम होते हैं, बहुत गरम दूध भी भारी हो जाता है। रोटी कच्ची रही, सब्जी, दाल ठीक पकी न हो तो अच्छी तरह हजम नहीं हो पाती। इसलिए पदार्थ कच्चा रखना यानी बराबर न पकाना या अधिक पकाना, दोनों चीजें पाचन-शक्ति को कमजोर करने वाली हैं, यह ध्यान रखना जरूरी है।

(9) हृद्याः—आहार हजम होकर शरीर में आत्मसात् होने वाला यानी शरीर की जीवन-शक्ति बढ़ाने वाला हो। आहार हजम होने में आसान तो हो ही, वह शरीर में आत्मसात् होकर जीवन-शक्ति बढ़ाने वाला भी हो। इसलिए आहार कौन-सा लेना है, यह निश्चित करने के पहले पाचन-शक्ति देखकर तय करना चाहिए। आहार सुपाच्य और पोषक हो, यही हमेशा ख्याल रखना चाहिए।

(10) आहाराः सात्त्विकप्रियाः—ऐसा आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय रहता है। सात्त्विक लोग वे हैं, जिनकी प्रकृति सात्त्विक है, जो हमेशा सात्त्विक कर्म में ही लगे रहते हैं। सामान्य नियम है कि जिनकी वृत्ति सात्त्विक होती है, उन्हें सात्त्विक आहार ही प्रिय होता है।

—व्याख्याकार : श्री शिवा भावे

श्री अवनीश कुमार भटनागर

श्री सद्गुरु कृपा-लीला

निकटतम अतीत ही में घटित सर्वशक्तिमान विश्वेश्वर की इस घटना को जनहितार्थ लिपिबद्ध करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मैं अज्ञानी यह निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ कि सर्वशक्तिमान सद्गुरु देव की इस अनन्त कृपा लीला को कौन से उत्तमोत्तम शब्द दूँ जिससे यह उसी रूप में श्रद्धालुओं के सामने आ सके जिस प्रकार यह घटी है। उन्हीं सर्वशक्तिमान परम कल्याणघन सद्गुरुदेव के अति कृपामय श्री चरणारविन्द में कोटिशः नमन करते हुये प्रयास कर रहा हूँ, वह अनन्त श्री मेरे सहायक होंगे ही।

अनन्त श्री चन्द्रमोहन प्रभु-स्मृति योग प्रचार सभा सहारनपुर के मन्त्री परम आदरणीय श्री जुगमन्दरदास जी के सुपुत्र भाई श्री राजकिशोर को अकस्मात ही कुछ समय पूर्व उदर शूल की शिकायत हो गया थी जो कुछ ही दिनों में बढ़ कर अत्यधिक कष्टदायी हो गई। हाथ-पाँवों में बहुत जलन रहने लगी, भूख बन्द हो गई, ज्वर रहने लगा स्वभाव एकदम तीखा हो गया। डाक्टरों को दिखाने के पश्चात् अल्ट्रासाउण्ड आदि करवाये गये रिपोर्ट में पित्त की थैली में सूजन व पथरी आये। अनेक डाक्टरों को दिखाया सभी ने राय ऑपरेशन करके पित्त की थैली को निकाल देना ही रही। सर्जन ने ऑपरेशन का समय निश्चित कर दिया।

इसी बीच सर्वशक्तिमान विश्वेश्वर श्री रामलाल महाप्रभु जी की कृपापात्र एक देवी जी के हुजूर में भाई राजकिशोर की व्याधि कथा कही गई और प्रार्थना की गई कि किसी भी प्रकार श्री राजकिशोर का ऑपरेशन न हो, पूज्या देवी जी ने श्री महाप्रभु के चरणारविन्द में अर्ज की तो उनको श्री रामलालजी विश्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी अनन्त प्रभु का साक्षात्कार हुआ। श्री महाप्रभुजी व श्रीसद्गुरुदेव प्रभुवर के आगमन के पश्चात् उन्होंने देखा कि श्री महाप्रभु जी के कृपायुक्त हस्तकमल में दो प्रकाशवान छोटी गोल छड़ें हैं, उन छड़ों को श्री प्रभुजी ने भाई राजकिशोर के मुख में प्रवेश कराकर, पेट के अन्दर प्रकाश किया उस प्रकाश में पित्त की थैली के अन्दर अंगुली के अग्रभाग में एक ठोस वस्तु दिखाई देने के पश्चात् उस ठोस वस्तु को वहाँ से गायब कर पित्त की थैली पर कृपायुक्त प्रकाश दृष्टि करके रोग दूर कर दिया। इस बीच ही भाई राजकिशोर को परम

कृपालु अनन्त आनन्दकन्द सिद्धेश्वर सद्गुरु देव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का साक्षात्कार हुआ, श्री सद्गुरुदेव जी अनन्त प्रभु ने श्री मुखारविन्द से फरमाया "क्या बात है" और भाई राजकिशोर को उठाकर अपने श्रीकण्ठ से लगाया और बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया और कहा "कुछ कुछ नहीं होगा।" रज खा लिया कर।"

इस अलौकिक कृपा के पश्चात् भाई राजकिशोर पूर्णतः स्वस्थ हो गये और दुबारा अल्ट्रासाउण्ड आदि कराये गये, परन्तु उनमें फिर कुछ भी नहीं पाया। भाई राजकिशोर का मात्र एक दिन ही बीच में था उससे अगले दिन ऑपरेशन हो जाना था, परन्तु हमारे आपके सबके ही परम-कल्याणकर, सर्वशक्तिमान श्री सद्गुरु देव प्रभु ने अपनी कृपा से समस्त क्लिष्ट संस्कारों को दूर भगाकर अपनी अनुकम्पा बरसायी, और भाई राजकिशोर को रोग मुक्त कर दिया।

मेरे लिए इस लीला चरित्र का वर्णन करना अपार प्रसन्नता का कारण इसलिए बना कि श्री सद्गुरुदेव जी के साकार स्वरूप के होते हुए तो ऐसे दिव्य कृपा चरित्र सदैव होते ही रहते थे परन्तु अब जबकि अधिकांश गुरु भाइयों के मन में यही भाव रहता है कि श्री सद्गुरुदेवजी तो अब रहे नहीं, लोगों की आस्था भी खण्डित-सी होगई है आदि-आदि। मैं कहां तक वर्णन करूं इस प्रकार की क्षुद्र मानसिकता वाली हजारों बातें आज कहने-सुनने में आती हैं। समस्त गुरु-भाइयों से मेरी प्रार्थना है कि ऐसी निरर्थक बातों को त्याग कर उसी परमोज्ज्वल, सर्वोच्च, सर्वोत्तम परम्परा से जुड़िये अटूट श्रद्धा और दृढ़ विश्वास के साथ। श्री सद्गुरुदेवजी को पुकार कर तो देखिये, आप पायेंगे कि वे परम कल्याणकर आपके सबके अपने सद्गुरुदेवजी आपके पास ही तो खड़े हैं।

अद्वैतवाद ?

स्वामी रामतीर्थ परमहंस का सत्संग चल रहा था। एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, अद्वैतवाद के सम्बन्ध में आपके विचार क्या हैं? ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है क्या यही वेदान्त का सार है? स्वामी जी ने इस जिज्ञासा का जो समाधान प्रस्तुत किया वह इस प्रकार है:

'सब मिथ्या है, माया है, परमतत्त्व ही सत्य है—इस तरह का वाद करना सरल होता है, किन्तु ऐसे वाद से अद्वैतवाद श्रोताओं की समझ में आ जाता है, ऐसा तो कोई नहीं कह सकते। जब तक किसी चीज को यथार्थ न समझें, उसके विषय में ज्ञान कैसे हो सकता है? जो मृगतृष्णा को समझता है वह उसके पीछे पानी की खोज में नहीं जाता। आंखों से जिस चीज को हमने देखा हो, उसके विषय में अनुभव हो, उसमें हम धोखा नहीं खाते। अद्वैतवाद की बातें जरा जटिल हैं। मीमांसा के द्वारा यह निर्णय होता है कि परब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब झूठ है। इस भावना को हृदय में लाना सरल नहीं होता। शास्त्रार्थ से प्राप्त हुआ ज्ञान एक बोझ के समान ही रह जाता है, जिसके लादे रहने पर भी मन में अद्वैतवाद का उदय होना कठिन होता है। एक दिन तो हम खूब जोरों से जगत् को माया कहते हैं और दूसरे रोज सुबह होते ही भोजन की चिन्ता में लग जाते हैं। उसमें रुकावट देख कर हम क्रोधित हो जाते हैं। सिद्धान्त काम नहीं देता। यों सामान्य लोगों के लिए भक्ति-मार्ग ही लाभदायी रहेगा।

पत्र-पुष्प-फल-तोयम्

श्रीमद्भगवद्गीता से

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

श्री भगवान ने कहा: तू उनके लिए शोक करता है, जो शोक के योग्य नहीं हैं, परन्तु बातें ज्ञानियों की-सी करता है। ज्ञानी जन न तो मरे हुए लोगों के लिए शोक करते हैं और न जीवितों के लिए।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

मैं, तू अथवा ये राजा पहले कभी नहीं थे या हममें से कोई भविष्य में कभी न होगा, ऐसा नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

जिस प्रकार देहधारी आत्मा शरीर की कुमार, युवा तथा वृद्ध अवस्था से पार होता है उसी प्रकार वह दूसरे शरीर में भी चला जाता है। बुद्धिमान लोग उसकी इस देहान्तर-प्राप्ति से विचलित नहीं होते।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तु मर्हति ॥

हे अर्जुन! आत्मा इस पृथ्वी के समस्त प्राणियों में व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान। उस अविनाशी का नाश कोई नहीं कर सकता।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

यह आत्मा न तो कभी पैदा होता है, मरता है। होता हुआ, भविष्य में कभी न होने वाला भी नहीं है। अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन, यह देह के मारे जाने पर मारा नहीं जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण शरीर त्याग कर नया शरीर धारण कर लेता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।

वह छेदा, जलाया, भिगोया या सुखाया नहीं जा सकता। वह नित्य सर्वव्यापी स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।

उसे अव्यक्त, चिन्तन के परे और विकाररहित कहा गया है। उसका यह रूप जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।

सबके शरीर में इस प्रकार रहने वाला आत्मा नित्य और अवध्य है इसलिए तुझे किसी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।

जो भी चर-अचर प्राणी-जगत् उत्पन्न होता है, उसे तू आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न हुआ जान।

आत्मा का निवास किस स्थान पर है ? क्या वह सिर में है, हृदय-प्रदेश में है या और कहीं है ? आत्मा सर्वव्यापी है, उसे शरीर के किसी विशेष भाग अथवा इन्द्रिय में नहीं पाया जा सकता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश वस्तुओं में व्याप्त होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण उनमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा शरीर में सर्वत्र रहने पर भी निर्लिप्त रहता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।

जैसे एक सूर्य समस्त पृथ्वी को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाश देता है।

□ स्वामी विवेकानन्द

स्वार्थोन्मूलन ही धर्म है

विश्व के अधिकारों का विभाजन कोई नहीं कर सकता। अधिकार के विषय में बात करने का अर्थ है सीमित होना। यह 'अधिकार' नहीं परन्तु 'उत्तरदायित्व' है। विश्व में कहीं भी कोई अशुभ हो, उसके लिए प्रत्येक उत्तरदायी है। अपने भाई से कोई अपने को पृथक् नहीं कर सकता। जो क्रियाएँ विश्व से एकत्व स्थापित करें, वे पुण्य हैं और जो विभेद स्थापित करें, वे पाप हैं। तुम उस अनन्त के ही एक अंश हो। यही तुम्हारा स्वभाव है। अतः तुम अपने भाई के रक्षक हो।

जीवन का प्रथम लक्ष्य है ज्ञान तथा दूसरा लक्ष्य है सुख। ज्ञान तथा सुख मुक्ति की ओर ले जाते हैं। परन्तु जब तक हर प्राणी (चींटी या कुत्ता भी) मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक कोई भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते, कोई भी सुखी नहीं हो सकता। जब तुम किसी को क्षति पहुँचाते हो, तो अपने आपको ही क्षति पहुँचाते हो, क्योंकि तुम और तुम्हारा भाई एक ही हैं। सचमुच में वही योगी है, जो अपने को सम्पूर्ण विश्व में और सम्पूर्ण विश्व को अपने में देखता है। आत्म-प्रतिष्ठान नहीं, आत्मत्याग ही सर्वोच्च लोक-धर्म है। यह दुनिया इसीलिए इतनी बुरी है क्योंकि—'अशुभ का विरोध न करो।'

ईसा के इस उपदेश पर चलने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। समस्या का हल त्याग से ही हो सकता है। धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्मत्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरे के लिए करो, यही भगवान् में निवास, विचरण और उसमें आत्म-समाहित होना कहा जाता है।

फिर क्यों ? अभी क्यों नहीं ?

जहाँ-जहाँ तुम आवश्यक कार्यों के लिए 'फिर कर लेंगे'—यह कहकर टालते हो, वहीं पर यह अपने मन से प्रश्न करो—'अभी क्यों नहीं कर सकते ? ऐसा कोई मनुष्य कदाचित ही देखने को मिलेगा, जो अनेकों कामों को जिन्हें उसी समय कर लेने का अवसर है, उन्हें आलस्यवश फिर करने के लिए न टालता रहता हो। यह 'फिर' ऐसा विचित्र रोग मन के साथ लगा हुआ है, जिससे जीवनभर छुटकारा नहीं मिलता और इस रोग को अच्छे-अच्छे चतुर विद्वान व्यक्ति भी प्रायः नहीं समझ पाते। एक आवश्यक काम को करते हुए दूसरे काम को फिर कर लेने की बात तो उचित ही है; किन्तु जब तुम लेटे हुए हो और उठने की आवश्यकता है, तब कहते हो—'फिर उठेंगे', बैठे हुए कहते हो—'फिर खड़े होंगे', खड़े हुए कहते हो—'फिर चलेंगे' इस प्रकार जब कभी किसी कार्य के पीछे 'फिर' लगा लेते तो अवश्य ही आलस्य की ही उपासना करते हो। —साधुवेश में एक पथिक

☐ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

सुख की चाह

भोर के समय आप किसी नगर के चौराहे पर थोड़ी देर रुक कर कौतुक देखिये। आपके चारों ओर दायें-बायें आगे-पीछे यातायात का क्रम कितनी तीव्रता से चल रहा है। मोटर कारें, लारियाँ, तांगे, स्कूटर, साइकिलें आदि अनेक प्रकार के वाहनों का तांता बँधा रहता है। ट्रैफिक कन्ट्रोलर जिस ओर हाथ ऊँचा कर देता है तो मिनटों-सैकिन्डों में कितनी लम्बी पंक्ति बन जाती है। हर किसी को अपने लक्ष्य पर पहुँचने की इतनी शीघ्रता होती है कि कन्धे से कन्धा टकराता है। क्या मर्द स्त्री क्या मनुष्य ऐसी त्वरा (तेजी) से भागते हैं जैसे कहीं आग बुझाने जा रहे हों। इस कारण से प्रायः दुर्घटनायें भी घट जाती हैं। प्रायः ऐसे ही दृश्य सायंकाल भी आपको देखने को मिलेंगे।

आपको कई बार रेलवे-जंक्शनों पर भी जाने का अवसर मिला होगा—रेलगाड़ियों पर चढ़ने व उतरने वालों को कितनी जल्दी होती है। दोनों ही अधीर होते हैं। द्वार पर जाने-आने का मार्ग रुका देखकर लोग गाड़ी की खिड़कियों से ही प्रायः कूदने लगते हैं। धकापेल होने के कारण बहुधा झगड़े हो जाते हैं।

यह सब क्यों? इतनी त्वरा (जल्दी) क्यों? आप जिससे भी पूछेंगे तो वह अपनी ही कहेगा—किन्तु उसका उत्तर सही न होगा। उदाहरणतया मुझे गाड़ी पकड़नी है, काम पर जाना है, मित्र अस्वस्थ है, मुझे रामा देखने जाना है, मुझे महाविद्यालय पहुँचना है, मुझे ट्यूशन पढ़ाने जाना है आदि आदि। यद्यपि ये सारे प्रत्युत्तर उनके दृष्टिकोण से उपयुक्त हैं। किन्तु यथार्थ में ठीक नहीं हैं। हेतु यह कि हर एक कार्य की गहराई में किसी और प्रकार की चाह अन्तर्निहित होती है। आप कहेंगे वह चाह क्या है?

यह सब भाग-दौड़ क्यों है? दुकान, मकान, दफ्तर, ड्यूटी, कालेज-स्कूल, मेला आदि जाने का अभिप्राय क्या है? रोगी और वैद्य क्या चाहते हैं? ग्राहक और दुकानदार के लेने-देने में क्या भेद है? सांय को घर पहुँचना क्यों आवश्यक है? गाड़ियों में चढ़ने उतरने वालों को जल्दी क्यों है? ज्ञानियों-ध्यानियों, योगियों-तपस्वियों, के ज्ञान-ध्यान योग और तप करने का ध्येय क्या है? वैज्ञानिक के नूतन आविष्कार किसलिए हैं? लोग धन सम्पत्ति विवाह, सन्तान, पदवी, प्रतिष्ठा क्यों चाहते हैं? कोई-कोई मृत्यु का भी आलिंगन क्यों किया चाहते हैं? भला हो इनके उत्तर हर एक मनुष्य यथामति देगा परन्तु वह अधूरा ही होगा।

किसी महामूर्ख से पूछकर देखलो तो वह भी अपने आपको बुद्धिमान कहेगा-बात यह है कि ब्रह्माजी ने जब यह सृष्टी रची तो हर

एक के कान में झुक कर कह दिया "मैंने तेरे जैसा न कोई बनाया है और न बनाऊँगा, यों सभी अपने को "तीसमारखां" समझते हैं।

हमारा प्रसंग चल रहा था कि ये सब क्या चाहते हैं? यदि शास्त्रीय दृष्टि से सबकी गहराई में उतर कर देखा जाय तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि वह एक ऐसी वस्तु है जो अन्तर में बैठकर विश्व के समूचे चक्र चला रही है। वह है 'सुख की चाह।'

आप जब बड़े ध्यान से विचार करेंगे तो आपको यह उत्तर यथार्थ और नपा-तुला प्रतीत होगा। इसमें तनिक भी सन्देह को स्थान नहीं रहेगा। बावन तोला पाव रत्ती सत्य है यह।

यदि भगवान को पाकर भी सुख न मिले तो फिर उसे देखने मिलने-रिझाने व अपनाने का क्या प्रयोजन? मरने की इच्छा में भी यही रहस्य छुपा है। हमें मरकर सुख मिलेगा। इसी सुख के निमित्त ही कितने लोग दुःख से व्याकुल होकर आत्म-हत्या करने पर उतारू हो जाते हैं।

सुख का पर्यायवाचक शब्द 'हर्ष और आनन्द' भी है। आनन्द में ही प्रसन्नता और सुख है। प्रमोद में ही आनन्द-उल्लास, मस्ती सुख, जीवन व शान्ति है। इसी हार्दिक प्रसन्नता को पाने के लिए मनुष्य हँस-हँस कर सूली पर चढ़ जाता है। अपनी प्यारी से प्यारी काया को भी कष्टों में झोंकने से सकुचाता नहीं। समुद्रों की तलहटियों में डुबकी लगाता, गिरि-कन्दराओं में घूमता, गगन चुम्बी पर्वतों को लांघता और आकाश में ऊँची से ऊँची उड़ान भरता हुआ मृत्यु से खेलता है। इन सब साहसिक कार्यों को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि इनका दुस्साहस कराने वाली केवल 'सुख की चाह' ही होती है।

प्रत्येक मानव यथार्थ प्रसन्नता का इच्छुक है। उसे ही प्राप्त करने के लिए रात-दिन दौड़-धूप करता है। संसार के अनेक व्यापारों में इसी सुख की भावना काम करती है। अभ्यास प्रार्थना—हज-नमाज रोजा-व्रत-योग-दान-तप-नियम-संयम-तीर्थाटन भजनोपासना आदि में भी सुखोपलब्धि की वासना छुपी है। शुभ कर्म व शुभ विचार केवल इसी सुख को ही पाने की इच्छा से है।

अब एक और प्रश्न सम्मुख आता है—जबकि सम्पूर्ण सृष्टि सुख को पाने और सुखी बनने के लिए हाथ-पाँव मारती और आठों पहर प्रयत्न करती हुई भी उसे पा न सकी तो इसमें कारण क्या है? यों यह एक और प्रश्न उत्पन्न हो गया। प्रश्न के मूल से प्रश्न पैदा होता है—यह प्राकृतिक धर्म है।

सबसे पहले हमें देखना है कि संसार सुखी या दुःखी क्यों है। रोग के मूल को ही टटोलना चाहिये। यदि दुःखी है तो किस हेतु? इसका उत्तर खोजने के लिए समय के सबसे उत्तम, दूरदर्शी मनीषी पुरुष से ही भेंट करनी होगी क्योंकि उनके बिना इन गम्भीर प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर हमें साधारण लोगों से कदापि न मिल सकेगा।

श्री सद्गुरु जो भी कहेंगे वह त्रिकाल सत्य होगा। लगाव-लपेट का यहाँ काम भी नहीं है। श्री कबीर साहिब के शब्दों में हमारे प्रश्न का उत्तर मिल जायगा—"तन धन सुखिया कोई न देखा-जो देखा सो दुखिया रे" इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारा संसार ही दुःखी और परेशान है। तभी तो हर मनुष्य सुख की खोज में आकुल है।

जिसे देखो वह यही रोना रोता है कि मैं बहुत ही दुःखी हूँ किसी तरह सुखी बन जाऊँ। हर एक गुप्त अग्नि में दग्ध हुआ जा रहा है। यदि कोई बचा हुआ है तो वह केवल सन्तों सत्पुरुषों की संगति में रहने वाला सच्चा भक्त ही बचा है।

चिन्ता-विषाद उद्विग्नता और संशयों की धधकती हुई यह सृष्टि की आग हर किसी के अन्तःकरण में प्रज्वलित रहती है। समस्त मनुष्य इसमें प्रदग्ध हुए जाते हैं। किन्तु यह प्रगूढ़ वह्नि सच्चे भक्तों को जला नहीं सकती। इसमें एक गहरा भेद है। जिसका बोध सन्त सत्पुरुषों की संगति में आने पर होता है।

यह अनल दो प्रकार की होती है (1) आन्तरिक (2) भौतिक। यह दो प्रकार के कार्य करती है सुखदायक और दुःखदायक। पहले हम भौतिक अग्नि को लेते हैं। इसके बिना हमारा एक दिन भी काम नहीं चल सकता। यदि किसी के चूल्हे में आग न जले तो घर में शोक छा जायगा। छोटे-बड़े भूख से बिलबिलाने लगेंगे। शीतकाल में तो इसी अग्नि को तापने से ही हम कड़ाके की सर्दी से छुटकारा पाते हैं। कारखाने इंजिन और सैकड़ों ही यन्त्र इसी अग्नि से ही काम करते हैं। यह इसका आनन्ददायक पक्ष है। अब हम इसके अनिष्टकारक पक्ष को लेते हैं। यही आग जब कहीं भूल से लग या लगाई जाये तो निमिषमात्र में लाखों करोड़ों की सम्पत्ति मकान, इन्सान-पशु-मनुष्य-कीट पतंग जलकर भस्म हो जायेंगे।

अब इसके शुक्ल पक्ष पर ध्यान दीजिये। यह ईश्वर की कृपा है। इसके बिना जीवन विषमय है। किसी के अन्दर तापमान यदि कम होने लगे तो मृत्यु सन्निकट होती है। वही अग्नि जब प्रेम भक्ति की अग्नि का रूप धारण कर लेती है अथवा वेग भक्ति के रूप में उद्दीप्त हो उठे तो आन्तरिक मलिनता व दौर्मनस्य को जलाकर निर्मल करके कुन्दन बना देती है। वही मनुष्य लोक प्रतिष्ठा का भागी बनकर सूर्य, चन्द्र की भाँति चमक उठता है। इसी आग से अमर पदवी प्राप्त होती है। एक छोटी सी घटना है—जो आन्तरिक अग्नि को स्पष्ट करेगी—

शीतकाल में दो मनुष्य एक स्थान पर गुम-सुम बैठे थे। एक बुद्धिमान और दूसरा जड़मति था। जड़मति ने घबड़ा कर कहा मित्र! कहीं से थोड़ी आग ला दो। जिससे ठण्ड से बच जायें। उसने उत्तर दिया कि आग कौन-सी चाहते हो? आन्तरिक या भौतिक? जड़मति ने कहा कि मुझे यह पता ही नहीं कि मानसिक अग्नि भी होती है? पहले मुझे उसे समझाइये। बुद्धिमान ने कहा तो सुन—सर्दी के मौसम में ठिठुरता हुआ साधु किसी दूसरे साधु के पास पहुँचा और उससे थोड़ी सी आग माँगी। उसने कहा कि आग मेरे पास तो है नहीं क्योंकि मैं अभी नरक-कुण्ड से जाकर आता हूँ। इतना कहकर वह साधु उधर लपका और नरक-कुण्ड के द्वार पर जा पहुँचा। यमदेव ने स्वागत करते हुए पूछा— कैसे पधारना हुआ? साधु बोले भगवन्! थोड़ी-सी आग चाहिये। यमराज ने उत्तर दिया—यहाँ आग कहाँ? साधु ने चकित होकर कहा "यहाँ"

भी आग नहीं है ? मैंने तो सुन रखा है कि नरक-कुण्ड में तो हर पल आग जला करती है महाराज हँसकर बोले—'बस ! यहाँ जो भी आता है वह अपनी आग साथ लाता है। क्या तुम नहीं देखते कि जब तुम पहले-पहल गर्म कपड़े या रजाई ओढ़ते हो तो वे ठण्डे होते हैं। किन्तु थोड़ी देर बाद तुम्हारे शरीर के ताप से ही वे गर्म होते हैं। जाओ—अपने अन्दर की आग से काम लो। साधु ने लौटकर दूसरे साधु को भी यमराज के वचन सुना दिये और कहा कि अपने अन्दर की आग से काम लो।

इतनी बातें सुनाकर बुद्धिमान ने नादान से कहा कि अब तुम मेरे साथ चलो जिससे तुम्हें सूक्ष्म अग्नि का दर्शन भी कराऊँ। जाते-जाते उन्हें एक किसान मार्ग में मिल गया। जो क्रोध में अपनी पत्नी और बच्चों को गालियाँ दे रहा था। ये दोनों वहाँ पहुँचे और बोले "बाबा ! थोड़ी-सी आग तो दे दो।" उसने उत्तर दिया 'यहाँ से भाग जाओ। इधर कोई आग-वाग नहीं है।" बुद्धिमान ने कहा कि झूठ क्यों बोलते हो ? धुँआ तो साफ उठ रहा है। यह सुनते ही वह गरम हो गया और आवेश में बोला—तुम मेरे साथ हँसी करते हो? अभी इस उपहास का मजा चखा दूँगा। मतिमान ने फिर कहा कि "बाबा" अब तो शोले भी उठने लगे हैं थोड़ी-सी आग दे ही दो ! इस आहुति के पड़ते ही वह किसान लट्ठ लेकर मारने को दौड़ा। वे दोनों भाग खड़े हुए। आपस में कहा कि कितने जोर-शोर से आग भड़क उठी थी। यह है आन्तरिक अग्नि जो जहाँ भी प्रकट होती है वह पहले तो उसी के मन-मस्तिष्क और जिगर के स्नायु तन्तुओं को जलाती है। फिर निकट के वायु मण्डल पर भी प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। लाखों तरह के झगड़े और उपद्रवों की जड़ यह आभ्यन्तर अग्नि है। इसके रूप कोई कहाँ तक गिनायें।

उसके बाद वे दोनों एक दूसरे घर जा पहुँचे। यह किसी भक्त का घर था। वह अपने इष्टदेव की पूजा कर रहा था। वहाँ भी उन्होंने जाकर आग माँगी। पहले तो उस भक्त ने 'इन्कार' कर दिया। परन्तु जब उन्होंने दुबारा आग्रह किया कि हमें कृपा करके थोड़ी-सी आग अवश्य दीजिये। तब उसने मुस्करा कर कहा—अच्छा बैठो मैं यह आग ला देता हूँ। इतना कहकर वह इकतारा उठा लाया और बड़े करुणा स्वर में गाने लगा—

ऐ सत्गुरुजी बना मंदिर है
शालीशान दिल मेरे।
तेरी प्यारी छवि चाहूँ,
रहे बस ध्यान दिल मेरे॥
भुलाऊँ एक दम सबको,
क्या अपना बिगाना हो।
फकत तेरा आराधन हो,
रहे हर आन दिल मेरे॥
हैं जितने राग दुनिया के,
नहीं भाते मुझे हरगिज।
तेरी महिमा जो गाया,
पड़े बस कान दिल मेरे॥
जगादो आग सीने में,
मेरे ऐसी मुहब्बत की।
सिवा तेरे रहे न कुछ,
मिटे श्मशान दिल मेरे॥
यह अर्जी "विष्णु श्याम"
की सुनो सतगुरु स्वामीजी।
मिलालो मुझको अपने में,
करो कल्याण दिल मेरे॥

आँखों में आँसू की झड़ी लग गई थी। सारा शरीर पसीने में तर-बतर हो गया। रसीली और सुरीली ध्वनि सुनकर बहुत लोग जमा हो गये थे। सब पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब अपने तन-मन की सुधि भूल गये थे। वे दोनों भी बेसुध हो आनन्द में झूम रहे थे।

कुछ क्षणों के उपरान्त सन्नाटा टूटा। बुद्धिमान ने कहा—देखा भाई! यही वह आग है जिसने मन के सारी मैल-कुचैल को जलाकर निर्मल कर दिया है। जब प्रेमी के मन में प्रेम की आग भड़क उठती है तो वह प्रियतम के सिवाय शेष सबको जलाकर भस्म कर देती है।

हमारा प्रकरण चल रहा था कि चिन्ता-कल्पना की मानसिक आग सारी सृष्टि को जला रही है किन्तु प्रभु के प्रेमी भक्तों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

श्री रामचरित मानस का प्रसंग है—

जारा नगरु निमिष इक माहीं।
एक विभीषन करो घर नाहीं॥

(सुन्दरकाण्ड लंका दहन)

जब पवन सुत श्री हनुमानजी ने लंका को आग लगाई। सारा नगर जल गया परन्तु विभीषण के घर को आग न लगी क्योंकि वे ईश्वर के भक्त थे।

यद्यपि यह आग गुप्त रूप से सबके अन्दर रहती है। अग्नि तत्व एक ऐसा तत्व है जिसके बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता किन्तु गुप्त से गुप्त होती है। प्रत्येक तत्व को मनुष्य अनुकूल या प्रतिकूल बना लेता है। यह रहस्यपूर्ण सन्त सत्पुरुषों से हाथ लगता है। आप इसी मन को ले लीजिये—यह अपना मित्र भी है और शत्रु भी।

सत्पुरुषों ने बार-बार विचार कर निर्णय किया है कि नाम के बिना जीव किसी भी दशा में सुख नहीं प्राप्त कर सकता। इससे एक बात तो सिद्ध हो गई कि सुख प्रभु नाम में है और कहीं नहीं किन्तु अब यदि नाम की व्याख्या करते हैं तो विषय हमारा लम्बा हो जायगा। अतः इस अंग की विस्तृत व्याख्या न करते हुए केवल इतना कह देते हैं कि यह नाम गुण बोधक नहीं मौलिक है और वह नाम सद्गुरु देवजी से ही उपलब्ध होता है।

बिना सद्गुरु की शरण में जाये ईश्वर के मौलिक नाम का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। चाहे मनुष्य कोटि प्रकार के कर्म क्यों न करता फिरे। इसलिए विचारशील सत्पुरुषों ने एक ही निर्णय दिया है कि ऐ मनुष्य! यदि तुझे सच्चे सुख की इच्छा है तो फिर और जगह भटकना छोड़कर साधु सन्त सद्गुरु की चरण-शरण स्वीकार कर क्योंकि वे ही सच्चे सुख के भण्डार और आनन्द के निधान होते हैं।

◻ तुम्हारा वर्तमान जीवन बीते हुए जीवन का फल है। और भविष्य जीवन का बीज है। यह समझते हुए अपने वर्तमान जीवन में भविष्य के सुधार के लिए सदा सावधान रहो। विवेक पूर्वक कर्तव्य-पालन में तत्पर रहो, इसीसे सबको उच्चातिउच्च सफलता प्राप्त होती है।

—साधुवेश में एक पथिक

श्री काकासाहेब कालेलकर

मृत्यु का तर्पण

मृत्यु का तर्पण शीर्षक मेरे लेख पढ़कर एक मित्र ने विनोद में पूछा—काकासाहेब, आप इस तरह मृत्यु के पीछे क्यों पड़े हैं? मैंने उतने ही विनोद भाव में जवाब दिया—क्योंकि वह मेरे पीछे अनजान में न पड़े। आप मुझसे भी ज्यादा मृत्यु के खैरख्वाह मालूम होते हैं। मृत्यु तो अकेली होती हुए भी सब दुनिया के पीछे पड़ी है और सिर्फ मैं एक आदमी इस मृत्यु के पीछे पड़ा, इतने में आप दया करके मेरे पास शिकायत करने आये।

यह तो केवल विनोद की बात हुई। केवल सच बात तो यह है कि मृत्यु से आदमी इतना डरा हुआ रहता है कि उसका चिन्तन तो क्या, नाम तक सहन नहीं करता। मनुष्य की इच्छा रहती है कि अपने पिछले कर्मों, अपना पाप और अपना मरण, इन तीनों का, जहाँ तक हो सके, विस्मरण हो जाय। लेकिन असल में इन तीनों का विचार-युक्त स्मरण रहे, इसी में जीवन की सफलता है। जो मरण अवश्यंभावी है, उसी को अगर हम नहीं पहचानेंगे तो हम अपने आप को सुरक्षित या बुद्धिमान कैसे कह सकते हैं।

मृत्यु का अखण्ड स्मरण रखकर ही जो जीता है, वह अपने जीवन का दुरुपयोग नहीं करेगा। लेकिन जो मृत्यु का स्वरूप ही नहीं समझता और केवल मृत्यु का अंधा डर ही मन में रखता है, उसका जीवन तो एक अखण्ड और सतत् मरण ही बन जाता है। आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, जीवन क्या है, धर्म क्या है, समाज क्या है, नागरिकों का कर्तव्य क्या है—ये सवाल मनुष्य जीवन के लिए जितने महत्व के हैं, उतना ही महत्व का सवाल है मरण क्या है और उसके प्रति वृत्ति कैसी रहनी चाहिए। यह तो हमेशा की बात हुई। लेकिन आजकल तो मृत्यु का मौसम है। प्लेग, इन्फ्लुएंजा, हैजा, अकाल आदि जब बढ़ते हैं तब तो मृत्यु की फसल अच्छी होती ही है। लेकिन उन दिनों सब के सब प्राणी मृत्यु से बचने की कोशिश करते हैं। आजकल के विश्वव्यापी युद्धों में तो मनुष्य ने ही संहार लीला चलाई है।

मनुष्य ने तो ऐसा संहार मचाया है कि प्रलयकाल का ताण्डवनृत्य चलाने वाले प्रत्यक्ष भगवान शिवजी भी उसके पास तक सबक सीखने के लिए आ जायँ। अगर मृत्यु की शक्ति पर यह अखण्ड विश्वास न होता तो मनुष्य मनुष्यों को मारने का मसाला सभी ओर से इकट्ठा न करता। जिस दिन मनुष्य का मृत्यु पर से विश्वास उठ जायगा, उस दिन से मनुष्य जाति का जीवन-क्रम ही बदल जायगा। युद्ध में मृत्यु का जो साक्षात्कार किया जाता है, उसके दो पहलू हैं—एक है, मारना, दूसरा है मरना।

जिस दिन हम मरने के गुण दोष अच्छी तरह समझ लेंगे, उसी दिन हम निर्भय और बनेंगे, सच्चे क्षत्रिय बनेंगे, और जिस दिन हम मरने के गुण दोष पहचान लेंगे, उस दिन हम हत्या करना छोड़ देंगे और सच्चे सत्याग्रही बनेंगे। मनुष्य जीवन में जब तक एक तरफ लोभ, मोह और अहंकार तथा ईर्ष्या, असूया आदि दुर्गुण हैं, तब तक दूसरी ओर मनुष्य के लिए चिन्ता और साधना का मुख्य विषय है, अन्याय का प्रतिकार, और यह प्रतिकार अंतिम रूप में दो ही ढंग से हो सकता है—हत्याग्रह से या सत्याग्रह से। हत्याग्रह में मरने की तैयारी और मारने की तत्परता बतानी पड़ती है और सत्याग्रह में केवल मरने की। दोनों का सम्बन्ध मृत्यु के साथ आता ही है। इसलिए इस जमाने में हिंसावादियों तथा अहिंसावादियों को मृत्यु का दर्शन करना ही होगा अर्थात् मृत्यु का एक स्वरूप यथार्थतया समझकर मृत्यु से हम लाभ कैसे उठावें और मृत्यु का दुरुपयोग कैसे बचावें, यह सोचना ही पड़ेगा। जीना और मरना, जीवन के दो पहलू होने से इन दोनों को एक साथ पहचान लेना जीवन-सिद्धि के लिए परम आवश्यक है।

एक दिन एक जैन विद्वान से जीवन की चर्चा छिड़ गई। उन्होंने कहा, किसी को मारे बिना हम जी नहीं सकते—लिविंग इज किलिंग। उन्होंने बड़ी चतुरता के साथ बताया कि हम साँस लेते हैं, इसमें भी हत्या करनी पड़ती है। खाते हैं वह भी हत्या है फिर वह वनस्पति की हो या किसी पशु-पक्षी इत्यादि की। उन्होंने यह भी बताया कि समाज में एक वर्ग दूसरे वर्ग को निचोड़ कर ही जी सकता है। हर क्षेत्र में अपना ही सिद्धान्त कैसे चरितार्थ होता है, यह बताकर, अन्त में बड़े जोश के साथ उन्होंने कहा इसलिए मैं कहता हूँ कि हम बिना मारे जी नहीं सकते।

इस प्रश्न का प्रतिवाद तो हो ही नहीं सकता था। मैंने उनकी बात को स्वीकार करके कहा—इसमें शक नहीं कि जीने का अर्थ ही होता है मारना। जीवन का यह सत्य एकरूप है, और आपने उसे सिद्ध किया है। लेकिन जीवन का स्वरूप यह कोई जीवन का धर्म नहीं हो सकता। जीवन का धर्म आपको मुझसे लेना पड़ेगा। कम-से-कम मारना, कम-से-कम हिंसा करना, यही जीवन की कृतार्थता है, यही जीवन धर्म है। मृत्यु के बिना जीवन कृतार्थ नहीं हो सकता, यह बात सही है। लेकिन उसके लिए तो विचारपूर्वक, मौके पर अपने प्राण-अर्पण करने पड़ते हैं। औरों को मारने से जीवन सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। योग्य प्रमाण में, योग्य ढंग से, सच्चे मौके पर अपना बलिदान देना, अंशतः या पूर्णतः मृत्यु को स्वीकार करना यही जीवन की सच्ची सफलता है। मारने से, हिंसा करने से जीवन की जटिलता बढ़ती है। जीवन की गुत्थियाँ और भी अधिक पेचीदा बनती हैं। जो हत्या करता है और जिसकी हत्या हो जाती है, दोनों ही जीवन-दर्शन से दूर-दूर हो जाते हैं, लेकिन जीवन और मृत्यु का रहस्य समझकर जो लोग अहिंसावृत्ति धारण करके मृत्यु से पूरा लाभ उठाना जानते हैं, वे ही सच्चे

जीवन-स्वामी बनते हैं। जो सिर्फ जिन्दा रहता है और जिन्दा रहने के लिए सब कुछ बुरा-भला करने को प्रस्तुत होता है, वह जीवन-स्वामी नहीं बन पाता। जीवन-स्वामी तो वही है जो अपने जीवन को कुशल किसान की तरह मृत्यु की मदद से विश्व व्यापार के क्षेत्र में बो सकता है।

इसलिए जिन दिनों एक ओर हत्या की विफलता का अनुभव करने के लिए मनुष्य जाति ने सबसे बड़ी, विराट और भीषण प्रयोगशाला खोली है, दूसरी ओर सत्याग्रह का दैवी तत्व दुनिया में चलाने वाला एक प्रयोग-वीर हमारे बीच है, उन दिनों हिंसा और अहिंसा की चर्चा करने से पहले हम यह अच्छी तरह समझ लें कि मृत्यु क्या चीज है विचार करके, ध्यान-चिंतन करके, और आवश्यक प्रयोग करके मृत्यु के स्वरूप को पहचानें। मृत्यु इस दुनिया में क्यों भेजी गई है, मृत्यु का जीवन-कार्य क्या है, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना ही होगा।

(क्रमशः)

वैराग्य के आठ भेद

(1) यतमान वैराग्य—इस संसार में सार वस्तु क्या है और असार वस्तु क्या है, यह बात सद्गुरु और सत्शास्त्र से निश्चय करनी चाहिये, इस प्रकार के यत्न का नाम यतमान वैराग्य है।

(2) व्यतिरेक वैराग्य—चित्त में पहले जो काम, क्रोधादि दोष थे उनमें से कितने निवृत्त हुए और कितने शेष रहे, इस प्रकार विचार करके शेष रहे कामादिकों में दोष दृष्टि करके निवृत्त करने का नाम व्यतिरेक वैराग्य है।

(3) एकेन्द्रिय-वैराग्य—हृदय में विषयों की इच्छा होते हुए भी मन करके इन्द्रियों को रोकना एकेन्द्रिय वैराग्य का लक्ष्य है।

(4) वशीकार वैराग्य—इस लोक तथा परलोक के विषयों की इच्छा त्याग करने का नाम वशीकार वैराग्य है। वशीकार भी तीन प्रकार का है। मंद, तीव्र, और तीव्रतर।

(5) मंद वैराग्य—धन स्त्री पुत्रादिकों के नष्ट होने से अथवा प्राप्ति होने से धिक् संसार है, इस संसार से मुझे कुछ भी सुख नहीं है। इस बुद्धि करके विषयों का त्याग, मंद वैराग्य है।

(6) तीव्र वैराग्य—इस जन्म में स्त्री पुत्रादि मत प्राप्त हो, स्थिर बुद्धि करके विषयों का त्याग तीव्र वैराग्य है। धन, स्त्री, पुत्रादि होते हुए भी विषयों में दोष दृष्टि करके उनका त्याग करना तीव्र-वैराग्य है।

(7) तीव्रतर-वैराग्य—मुझ को ब्रह्मलोकादि पर्यन्त किसी भी लोक की इच्छा नहीं, ऐसी स्थिर बुद्धि करके सर्व विषयों का त्याग तीव्रतर वैराग्य का लक्षण है।

(8) ज्ञान-वैराग्य—चित्त की विश्रांति अर्थात् जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द की प्राप्ति के लिए करने योग्य संन्यास वह विद्वत संन्यास है। इसीको पर वैराग्य तथा ज्ञान-वैराग्य कहते हैं।

—: श्रीमद्भगवद्गीता :—

☐ श्री राजगोपालाचार्य

गीता हिन्दू दर्शन और नीतिशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथों में से एक है और सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं ने उसे इस रूप में स्वीकार किया है। हमारे युवक और युवतियां यदि उसके चुने हुए श्लोकों का भी अध्ययन कर लें और यदि उनका मनन करें तो वे अपने पूर्वजों के धर्म को समझ सकेंगे। हमने जिस उदात्त दर्शन, कला, साहित्य तथा सभ्यता को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, उस सबका विकास हमारे पूर्वजों के धर्म के आधार पर ही हुआ है।

अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में गीता के अनेक उत्तम अनुवाद मौजूद हैं। विद्वानों के लिए श्री शंकराचार्य तथा अन्य धर्माचार्यों के भाष्य ज्ञान की खान हैं, जिनके सामने आधुनिक टीकाएँ नितान्त क्षुद्र मालूम होती हैं। यह लघु विवेचन उन विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है, जो समय और मानसिक तैयारी के अभाव में मूल गीता का अध्ययन विविध महान भाष्यों के साथ नहीं कर सकते।

गीता महाभारत का एक प्रकरण है। इसका प्रारंभ उस वर्णन से होता है जबकि अर्जुन दोनों पक्षों के लोगों को एक-दूसरे के वध के लिए युद्ध-भूमि पर खड़े देखकर उद्विग्न हो उठा था। इस प्रसंग के साथ कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में हिन्दू-धर्म की व्याख्या की संगति बैठाई गई है। कृष्ण सम्पूर्ण गीता में स्वयं परमात्मा के रूप में बात करते हैं।

इस लेख में जो कुछ कहा गया है, उसके और पुरातन कवि की साहसपूर्ण तथा अनुपम कल्पना से उत्पन्न पीठ-भूमिका के सौन्दर्य तथा उपयुक्तता के होते हुए भी, पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि गीता हिन्दू धर्मग्रंथ के रूप में महाभारत से पृथक् है। यह उचित ही था कि पुराणप्रिय हिन्दुओं के भाष्य में इस प्रसंग का महत्व क्रमशः कम होता गया और अन्त में प्रायः विलीन ही हो गया। कुरुक्षेत्र के युद्ध को अक्षरशः स्वीकार करने और उसके आधार पर ही गीता का अर्थ लगाने से विद्यार्थी गीता को सही रूप में न समझ सकेंगे, उलटे उनके भ्रम में पड़ जाने की संभावना है। यह सच है कि गीता की शिक्षा समस्त विश्व पर लागू होती है, इसलिए वह महाभारत के प्रसंग के लिए उपयुक्त है और उससे अर्जुन की समस्याओं तथा संशयों का हल हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु यदि हम इस विशेष दृश्य से ही वशीभूत हो गये और विशेष को लेकर साधारण-सा अर्थ निकालने लगे तो उस शिक्षा को ठीक तरह से न समझ पायेंगे। संस्कृत साहित्य में महान ग्रंथों की इस प्रकार की विवेचनात्मक भूमिका के प्रारम्भ करने की साधारण

पद्धति है। महाभारत में भी यदि ऐसा न किया गया होता तो भगवद्गीता को हिंसा-प्रहार के दोष से मुक्त करने के लिए महाभारत की सम्पूर्ण कथा का एक लम्बा रूपक तैयार करना पड़ता और यह काम बहुत कठिन हो जाता। सनातन धर्म के एक ग्रंथ के रूप में गीता का अध्ययन करते समय हमें युद्ध-भूमि का दृश्य भुला देना चाहिए।

गीता में अठारह अध्याय और कुल सात सौ श्लोक हैं। गीता के मात्र 226 श्लोक यहाँ उल्लेखनीय हैं। भगवद्गीता को साधारण रूप में समझ लेने के लिए इन श्लोकों का अध्ययन पर्याप्त होगा।

उपनिषदों में पहले से ही जो शिक्षा प्रस्तुत है, उससे अधिक भगवद्गीता में कुछ नहीं है। उसमें प्राचीन शिक्षा का संश्लेषण मात्र है। इस विवेचन का उद्देश्य गीता का कोई नया भाष्य बताना नहीं है। अतएव किसी पाठक को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि इस लेख में पुरानी टीकाओं का खण्डन अथवा नये भाष्य का आविष्कार दृष्टिगत होगा। इस लघु विवेचन का उद्देश्य केवल गीता के विषय को सरल रूप और छोटी-सी परिधि में प्रस्तुत करना है, ताकि दूसरे विषयों के अध्ययन में व्यस्त आधुनिक विद्यार्थी उसमें प्रतिपादित श्रद्धा, अनुशासन और आदर्शों को समझ सकें, जिनसे कि हमारे पूर्वजों का जीवन-पथ प्रकाशित हुआ और जिन्हें सनातन-धर्म अथवा हिन्दू धर्म के नाम से पुकारा गया है।

प्रकृति के नियमों तथा विज्ञान के चमत्कारों का अल्प ज्ञान कुछ लोगों के स्वभावों पर मदिरा का-सा काम करता है। यह परिणाम उस समय विशेष रूप से होता है, जबकि ज्ञान की प्राप्ति अप्रत्यक्ष रूप से की जाती है और वह वैयक्तिक प्रयत्न तथा गवेषणा के संस्कारी प्रभाव से वंचित रहता है। ऐसी स्थिति में उन लोगों का अनुपात-ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है। उनके लिए अज्ञात न केवल अज्ञात ही रहता है, वरन् सर्वथा नष्ट हो जाता है। धार्मिक ग्रंथों को वे प्राचीन काल की मूर्खता मानने लगते हैं। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर उन्हें पाखंड के उपकरण और उसके व्यवहार के लिए समझ-बूझकर तैयार की हुई युक्तियाँ बताने लगते हैं; परन्तु जिन्होंने भौतिक विज्ञान का गंभीरतर अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और, इस प्रकार, अपनी अनुपात-बुद्धि तथा निर्णय-शक्ति को कायम रखने के लिए पर्याप्त कर लिया है, वे जानते हैं कि अज्ञात-ज्ञात से कहीं अधिक विशाल है। अधिकाधिक समय बीतने के साथ मानव-बुद्धि उसके अधिकाधिक क्षेत्र को अपनी परिधि के अंदर ला सकती है, फिर भी अवशेष रहता ही है। उसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न उसे मानव-बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत ही लाया जा सकता है। सच्चे वैज्ञानिक न केवल अपनी नम्रता कायम रखते हैं, वरन् प्रकृति के कुछ गुह्य रहस्यों के ज्ञान के कारण ही, उसका और भी अधिक नम्रता तथा भक्तिभाव से मनन करते हैं, जो कि सदैव मानवीय विश्लेषण की परिधि के परे रहने वाला है।

सब कारणों के कारण, सब नियमों के नियम को मानवीय तर्क अथवा गवेषणा के उच्चतम प्रयत्नों से भी समझा नहीं जा सकता। मानवीय तर्कशक्ति इतनी पूर्ण और समंजस है कि उसमें मर्यादा की अनुभूति के स्थान ही नहीं; फिर भी, अंश कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह पूर्ण को परिव्याप्त नहीं

कर सकता। पूँछ को मुँह में दबाये हुए नाग का प्रतीक—मानो वह अपने सम्पूर्ण शरीर को निगल रहा हो—सम्पूर्ण को परिव्याप्त करने के लिए प्रयत्नशील मानवीय मन की मर्यादा का मूर्त प्रतीक है। किसी वस्तु पर खड़े होकर उसे उठा लेना मानव के लिए भी संभव नहीं है। जो परम कारण हमारा आधार है और जिस पर हमारे मन की एक-एक गति-विधि अवलंबित है, उसे परिव्याप्त करने अथवा उसका मापन करने के लिए हम उससे तटस्थ नहीं हो सकते।

मनुष्य के ज्ञान की यह मर्यादा वैज्ञानिक तथा दार्शनिक गवेषणाओं की सुपरिचित सीमा है। किसी भी सत्य का अवगाहन कीजिये, किसी भी प्रश्न की गवेषणा कीजिये या किसी भी विशिष्टता का पर्याप्त गहराई तक परीक्षण कीजिये, एक सीमा के बाद अज्ञात का शिलाखंड प्राप्त हो जाता है और उसके आगे प्रगति रुक जाती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विषय में हमारी टक्कर ईश्वर से हो जाती है। वह अज्ञेय, सर्वव्यापी है। ज्ञान और ज्ञेय अमर्यादित-रहस्य अज्ञेय के अङ्ग स्वरूपमात्र हैं। यही मर्यादा-रहित अज्ञात धर्म, धर्मग्रंथों और ऋषि-मुनियों की वाणी तथा कार्यों का विषय होता है। उनकी पद्धति वह नहीं है, जो वस्तु के सम्बन्ध में विज्ञान की होती है। वह भिन्न है और वही एकमात्र सम्भव पद्धति भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अज्ञात की चिन्ता क्यों की जाय? उसका क्या उपयोग है? उत्तर यह है कि वास्तविक की उपेक्षा करना मूर्खता है। अज्ञात इसलिए कम वास्तविक नहीं हो जाता कि वह ज्ञात है। हम उसके बारे में इतना जानते हैं कि उसका अस्तित्व है और सारी सृष्टि से—जिसमें हम भी सम्मिलित हैं—उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर हम उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? हम जानते हैं कि मानवीय दृष्टि के सामने आने वाली शून्यता वास्तव में शून्य नहीं है। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वास्तविकता से परिपूर्ण है। यह बात भिन्न है कि हम उसमें गहरे नहीं उतर सकते, उसका विश्लेषण नहीं कर सकते या उसे समझ नहीं पाते।

क्या भौतिक जगत् में गणितशास्त्री ऐसी संख्याओं से काम नहीं लेता, जो व्याख्या के लिए बहुत छोटी या बहुत बड़ी होती हैं? क्या वह ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग नहीं करता, जो मनुष्य की बुद्धि के लिए पूर्णतः अवास्तविक होती हैं? अपरिमिति, शून्य और असंख्यता की गणितशास्त्र में उपेक्षा नहीं की जाती, बल्कि इससे विज्ञान के विकास में बहुत सहायता मिलती है और उस विज्ञान की सहायता से इंजीनियर और यन्त्रशास्त्री यन्त्र और उपयोगी निर्माण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार जो हमें पहेली जैसा अथवा असीम दिखलाई पड़ता है वह, हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए भी असत्य या निरुपयोगी नहीं है। हो सकता है कि गीता, उपनिषदों तथा संसार के अन्य धर्मग्रंथों में जो कुछ कहा गया है वह हमें बहुधा उतना स्पष्ट न मालूम होता हो, जितना हम चाहते हैं। भौतिक विज्ञान में भी व्याख्या प्रणाली के समान संतोषजनक नहीं होती। यह अनिवार्य है, क्योंकि वस्तु बिलकुल भिन्न है, अतएव उसके अध्ययन करने की दृष्टि और प्रयोग-पद्धति में भी अन्तर होना आवश्यक है। मनुष्य के तर्क की परिधि में आनेवाले विषयों की व्याख्या की जा सकती है और उन्हें सिद्ध भी किया जा सकता है, परन्तु उसके परे के विषयों का

समझाने के लिए श्रद्धा और मनन की आवश्यकता है। धर्मग्रंथों को श्रद्धापूर्ण मनन में सहायता पहुँचाने वाले ग्रंथ माना जा सकता है। श्रद्धापूर्ण मनन ही एकमात्र उपाय है, जिससे कि अज्ञात सत्य की झलक प्राप्त की जा सकती है। पहले जो परस्पर विरोधी वाक्यांशों की निरर्थक ध्वनि-सी मालूम होती है वही मन और कर्मों को शुद्ध कर लेने से तथा ध्यान और प्रार्थना के बल से ठोस और अर्थ-गर्भित बन जाता है। प्रच्छन्न पर एक नया और विलक्षण प्रकाश पड़ता है, जिससे हम देखने लगते हैं—भले ही हमारा देखना धुँधला क्यों न हो और भले ही हम उतना भी दूसरों को बताने में असमर्थ क्यों न हों। इसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने देखा और इसी प्रकार फिर से हम भी देखेंगे।

किसी भी धर्म को समझने के लिए भक्ति-भावना आवश्यक है। इस शंका से श्रीगणेश करना नितांत मूर्खता है कि किसी देश के धर्म-संस्थापक या धर्माचार्य अपने या किसी समाज विशेष के लाभ की किसी योजना में अभिरुचि रखने वाले कुशल प्रवंचक थे और शेष लोग इन प्रवंचकों के धोखे में आकर इन्हें अमर्यादित भक्ति और प्रेम की भावना से देखने लगे। प्राचीन काल के लोग, जिनसे हमने अपनी सब बुद्धि उत्तराधिकार में पाई है, उतने ही व्यावहारिक थे, जितने हम हैं। वे मनुष्यों और पदार्थों-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में उतना ही रस लेते थे, जितना कि हम लेते हैं, और यह भी कहना अनुचित न होगा कि उतने ही शंकाशील भी थे, जितने हम हैं। संभवतः उनमें बौद्धिक शक्ति भी उतनी ही थी, जितनी हममें है, परन्तु उनके पास मनुष्यों और पदार्थों की परीक्षा करने के लिए अधिक समय था, इसलिए यह विश्वास करना कि वे धोखे में आ गये या उनमें बुद्धिमान तथा पर्याप्त साहसी लोगों का अभाव था, जो उस दुष्टता को रोक सकते, पूरी तरह गलत धारणा पर चलना होगा। धर्मों ने किसी भी देश के साधारण मानव-समाज की क्रमागत पीढ़ियों की जो भक्ति प्राप्त की, वह इसलिए कि उनके संस्थापक पहले प्रत्यक्ष सम्पर्क के आधार पर और बाद को परम्परागत अनुभव के आधार पर साधु, निष्कपट और गहरा चिन्तन करने वाले महापुरुष माने गये, जो अनुसरण के योग्य थे। धर्म का अध्ययन करते समय खुफिया पुलिस की मनोवृत्ति का प्रदर्शन करना न केवल गलत है, वरन् वह उसे समझने के लिए अयोग्य भी बना देता है। निःसन्देह वैयक्तिक तथा वर्गगत हितों ने धर्म तथा अन्य संगठनों का स्वरूप बिगाड़ दिया है। परन्तु बिगड़े हुए धर्म को मूल धर्म से मिलाना और मूल में प्रवंचना का आरोप करना सत्य की खोज में अवैधानिक मनोवृत्ति का द्योतक है। हमारे भारतवर्ष के ऋषि, जिन्होंने हमें महान् विचारों का उत्तराधिकार प्रदान किया है, ऋषि थे, और केवल ऋषि थे। अतएव प्राचीन धर्मग्रंथों का अध्ययन श्रद्धा-भक्ति के साथ ही करना चाहिए।

श्री भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री'

योग ही परमऔषधि है

यह संसार दो तत्वों से निर्मित है—जड़ तथा चेतन, असत् एवं सत्, अज्ञान और ज्ञान अथवा स्थूल और सूक्ष्म। आद्य शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य में प्रतिपादित करते हैं—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'—सत्य और असत्य परस्पर मिलकर संसार के स्वाभाविक व्यवहार का निर्वाह करते हैं।

जो वस्तु उत्पन्न होकर अस्तित्व रखती है, उसमें परिवर्तन या परिणाम अवश्य होता है। परिवर्तन होने के कारण ही किसी व्यक्ति या पदार्थ में वृद्धि तथा विकास होता है, किन्तु किसी पदार्थ में होने वाली यह वृद्धि एक निश्चित बिन्दु तक जाकर रुक जाती है और उसमें वहीं से क्षीणता प्रारम्भ होने लगती है। जब यह क्षीणता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब उस वस्तु या व्यक्ति का अभाव हो जाता है। इसी अभाव को व्यावहारिक भाषा में विनाश कहते हैं। परिवर्तन आदि उक्त विकारों को षड्भावविकार कहते हैं। ये जड़, असत् अथवा स्थूल पदार्थों में होते हैं। यह संसार (ब्रह्माण्ड) तथा प्रत्येक प्राणी का शरीर (पिण्ड) जड़ असत् अथवा स्थूल होने के कारण परिवर्तनशील (उत्पत्ति-विनाशशील) अथवा विकारयुक्त है।

यह सम्पूर्ण जगत् (ब्रह्माण्ड) तथा प्राणी-जगत् (पिण्ड) जो जड़ होने पर भी स्पन्दनशील और गतिशील दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण है असीमित चेतन-तत्त्व की संनिधि का प्रभाव। उस परम-तत्त्व ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की और फिर इसके अंदर प्रविष्ट हो गया। अतः उस परम चेतन-तत्त्व से प्रेरित होकर ही इस जड़-तत्त्व में स्पन्दन होता है और स्पन्दन क्रिया होने के कारण ही उक्त छः क्रियाविकार होते हैं।

लोहे के कण को चुम्बक के सामने ले जाइये। उनमें हलचल मच जायगी। इन लोहकणों में हलचल थी नहीं, फिर आ कहाँ से गयी? किन्तु ज्यों ही आप इन लोहकणों को चुम्बक की शक्ति सीमा से परे हटा लेते हैं, पुनः वे निःस्पन्द हो जाते हैं। आप पुनः उन्हें चुम्बक की शक्ति सीमा की परिधि में रख देते हैं, तो या तो वे नर्तन करने लगते हैं या फिर उसमें आत्मसात् होना चाहते हैं।

असीमित शक्ति अथवा चेतन-तत्त्व के आगार उस परमतत्त्व की शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिस प्रकार आकृष्ट है, बँधा है और नर्तन कर रहा है, स्पन्दित हो रहा है उसी प्रकार पिण्ड भी उस परम तत्त्व की प्रतिनिधि शक्ति के कारण स्फुरित हो रहा है। उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, क्षीणता तथा विनाश की अवधि ब्रह्माण्ड और पिण्ड की अवधि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों की निश्चित है। ब्रह्माण्ड की यह अवधि पिण्ड की अपेक्षा अधिक लम्बी है। इसलिए ये पिण्ड जैसे

पिण्डों के प्रतिदिन होने वाले विलयनों की भांति ब्रह्माण्डों का विलयन नहीं देख पाते हैं। पर इनकी भी आयु-सीमा निश्चित है। वहीं वह बिन्दु है, जहाँ से आरम्भ या श्रीगणेश प्रारम्भ होती है और अन्त में शक्ति समाप्त हो जाने के कारण इनको निःस्पन्द हो जाना है। यह जड़-तत्त्व केवल आवरण है चेतन-तत्त्व का। यह चेतन-तत्त्व ही सत् (अपरिवर्तनशील) चित्—चेतनाशील तथा आनन्दमय है।

इस जड़ या स्थूल तत्त्व को प्रकृति तथा चेतन-तत्त्व को पुरुष भी कहते हैं। प्रकृति में विकृति होती है। वह पुरुष को रिझाने के लिये स्पन्दनशील होती रहती है। पर अन्त में उसमें समाहित होने पर वह परा प्रकृति में अवस्थित हो जाती है।

अव्यक्त से व्यक्त—इस परा प्रकृति को 'अव्यक्त' कहते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में व्यक्त होने पर यह अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका (व्यक्त) बन जाती है। वस्तुतः इसी त्रिगुणात्मिका शक्ति का नाम प्रकृति है, क्योंकि विकृति इसी में होती है, 'अव्यक्त' में नहीं। यह 'अव्यक्त' प्रकृति उस परम शक्तिशाली सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परम चेतन के सहकार से स्पन्दित होती है और त्रिगुणात्मक होकर हमारी अनुभूति में आने वाले सूक्ष्मतम तत्त्व आकाश को उत्पन्न करती है। पुनः आकाश से वायु, वायु से तेजोमय अग्नि और अग्नि से रसयुक्त जल और जल से गन्धादियुक्त पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह संसार अव्यक्त या शून्य से उत्पन्न हुआ है। इसकी विपरीत क्रिया से पृथ्वी वृष्टि आदि से जलमय और फिर सूर्य की किरणों से जल सूखकर केवल तेजोमय हो जाता है और वह तेज पुनः वायु बनकर और आधार न पाकर धीरे-धीरे आकाश का रूप धारण कर लेता है। आकाश सत्त्वगुण में लुप्त होकर अव्यक्त या मूल प्रकृति में लीन हो जाता है। इसी को सर्ग या प्रतिसर्ग, उद्भव या आप्यय अथवा सृष्टि एवं प्रलय संज्ञा से अभिहित किया गया है।

जीवात्मा की व्यग्रता—उस परम चेतन के प्रतिनिधि चेतन की आत्मा की सन्निधि के कारण पिण्ड प्रकृति (शरीर) उस प्रकार स्पन्दित है, जिस प्रकार परमचेतन के कारण ब्रह्माण्ड स्पन्दित है। यह प्रतिनिधि चेतन आत्मा यद्यपि सत्-चित्-आनन्दमय है तथापि प्रकृति के प्रतिनिधिभूत देह का आश्रय लेने के कारण, प्रकृति के विकृतिमय चौबीस तत्त्वों से घिरा रहने से प्रकृतियों को अपने में प्रतिबिम्बित पाकर अपने को स्वयं विकारों से युक्त समझने लगता है, इस प्रकार जब उसका आनन्दमय स्वरूप कुण्ठित होने लगता है, तब उसकी व्याकुलता बढ़ने लगती है। वह अपने आनन्दमय स्वरूप में अवस्थित होने के लिए व्यग्र होने लगता है।

आनन्दमय स्वरूप में स्थित होने का उपाय—योग अपने इस आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहने के लिये अर्थात् प्रकृति की विकृतियों को अपने में आरोपित करने से बचने के लिए अथवा प्रकृति में विकृतियां को न होने देने के लिये तत्त्ववेत्ता अनादिकाल से उपाय करते चले आ रहे हैं।

इस विकृतिशील देह-पिण्ड में स्थूल-रूप से जल (कफ), अग्नि (पित्त) तथा वायु-तत्त्व (वात) यदि समान अवस्था में रहते हैं तो यह विकारी देह दीर्घकाल तक विकारों से रहित रह सकता है। आयुर्वेदशास्त्र का आविर्भाव इन तीनों विकार की समानावस्था में ला देने के लिये हुआ। ताकि जीवात्मा अपने आनन्दमय स्वरूप में सदा अवस्थित रह सके। किन्तु विकृतियों की पराकाष्ठा होने

पर आयुर्वेद की सहायता से भी धर्म के साधन—इस शरीर की रक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु योग मार्ग का अवलम्बन कर मानव-शरीर को सिद्ध देह के रूप में परिवर्तित कर अजर-अमर बनाया जा सकता है और साधक सिद्धयोगाभ्यास से अपने आनन्दमय स्वरूप में अवस्थित हो सकता है।

योग की दीर्घ परम्परा—योग की दो मुख्य शाखाएं हैं—हठयोग तथा राजयोग। हठयोग का आश्रय लेकर व्यक्ति अपने को शारीरिक विकृतियों से मुक्त रख सकता है। किन्तु राजयोग की सहायता से शरीर तथा अन्तःकरण—इन दोनों के विकारों से परे रहकर अपने आनन्दमय स्वरूप में स्थित रह सकता है। राजयोग समन्वयात्मक योग है। इसे 'अष्टाङ्गयोग' के नाम से भी जाना जाता है। योगविद्या की अतिदीर्घ परम्परा रही है। योगशास्त्र के आदिवक्ता 'हिरण्यगर्भ' माने गये हैं—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।'

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति की विकृतियों पर विजय प्राप्त करने के साधन योगशास्त्र को अनादिकाल से प्रवृत्त बताया है। उन्होंने अर्जुन से कहा कि इस 'योगशास्त्र' का उपदेश मैंने ही सबसे पहले सृष्टि के प्रकाशक सूर्य को दिया था। सूर्य ने मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को तथा इक्ष्वाकु ने राजर्षियों को इसका उपदेश दिया। इस प्रकार यह योग की परम्परा क्रमशः सभी सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं में चली आयी और जनक आदि राजा राजर्षि नाम से अलंकृत होते थे। इसी तरह महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि घेरण्ड आदि की भी अनेक योगपद्धतियां हैं।

योगसाधना—परम औषध

वह परम चेतन सम्पूर्ण द्वन्द्वों (राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता आदि) से परे है, उसमें परम शान्ति का सागर हिलोरें ले रहा है। जब आप योगसाधना द्वारा अनुकूल बनाये गये शरीर और इन्द्रियों को अन्तःकरण में समर्पित कर देते हैं, तब उस परम चेतन की शान्ति की कुछ झलक दिखाई देने लगती है जब अन्तःकरण को आत्मा में समर्पित कर दिया जाता है, तब व्यक्ति को शाश्वत शान्ति का दर्शन होने लगता है और जब आत्मा को परमात्मा (परम चेतन) में समर्पित कर दिया जाता है, तब पराशान्ति प्राप्त हो जाती है। योग की ये तीन भूमिकाएं हैं। शान्ति का अर्थ है—सम्पूर्ण क्लेशों से सर्वथा मुक्ति। अपनी इसी जीवितावस्था में जो व्यक्ति पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेता है, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। इसीलिए योग की उपादेयता के विषय में स्कन्दमहापुराण में कहा गया है कि 'संसार के क्लेशों से संतप्त प्राणियों के लिये योग की साधना ही परमौषध है'—

'भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् ।'

शुभ-सूचना :—

परम योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन प्रभु योग-प्रचार आश्रम का निर्माण

लगभग 35 वर्ष पूर्व योग-योगेश्वर आनन्दकन्द अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने अपनी परम कृपा की अमृत वर्षा करते हुए सहारनपुर में योग-प्रचार सत्संग सभा की स्थापना की थी, जिसके अन्तर्गत योग-योगेश्वर सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी के प्रभाव से चार दिवसीय उत्सव भी सहारनपुर में मनाया गया। और विविध योग-प्रचार कार्यक्रम भी आयोजित किये गये। अनन्तश्री सद्गुरुदेवजी द्वारा स्थापित इस योग-प्रचार सत्संग सभा के दिव्य सत्संग के प्रभाव से हजारों लोग लाभान्वित हुये हैं इनमें से कुछ ने श्री गुरुचरणों में ऊँचा स्थान बनाया हुआ है, जैसे श्रीमती शशिप्रभा मित्तल, महात्मा अमीरानन्दजी, ब्रह्मचारी बृजमोहनजी और पूर्व में आदरणीय भाई श्री रघुनन्दन प्रसाद, टाट वालाजी जैसे साधक भी सहारनपुर से ही श्री गुरुचरणों में पहुँचे थे।

फलस्वरूप सद्गुरुदेव प्रभु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की शिक्षाओं, आज्ञाओं का पूर्णतः पालन करते हुये प्रत्येक रविवार को लगभग 35 वर्षों से ही यहाँ संकीर्तन ध्यान साधन आदि निरंतर प्रभु कृपा से चल रहे हैं और अब उन्हीं आनन्दकन्द अनन्त परम ज्योतिर्मय साक्षात् ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु देव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की अनन्त कृपा के फलस्वरूप ही श्री गुरु-पूर्णिमा उत्सव पर 30 जून शनिवार 1993 को परम आदरणीय भाई योगाचार्य श्री चन्द्रहासजी शर्मा, जो कि श्री गुरुजी महाराज की प्रेरणा से ही अपना पूर्व निश्चित कार्यक्रम स्थगित करके सहारनपुर पधारे थे और यहाँ योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन प्रभु योग-प्रचार आश्रम की आधार शिला रखी, जिसमें 100 गज का एक प्रवचन-हाल श्री प्रभु दरबार, श्री शिव मन्दिर आदि का निर्माण हो चुका है।

सहयोग के इच्छुक गुरु भाई-बहन निम्न पते पर सम्पर्क कर सकते हैं।

—अवनीशकुमार भटनागर
सरस्वती आर्ट प्रेस,
नागस्थान चौक-सहारनपुर-247001

लाला हरीचरनलाल जी का निधन !

सभी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर हार्दिक वेदना होगी कि पूज्यपाद अनन्तश्री गुरुदेवजी के चरणों में अपार भक्ति व श्रद्धा रखने वाले उनके प्रिय शिष्य भरतपुर निवासी श्री लाला हरीचरनलाल जी अग्रवाल अब हमारे बीच में नहीं रहे। गत 24-8-1993 को उनका निधन लम्बी बीमारी के पश्चात् हो गया। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने गुरुदेवजी का जन्मोत्सव सवाई आश्रम पर जो अपनी ओर से महाराज जी की उपस्थिति में बड़े उत्साह से मनाया था। पूज्य गुरुदेव जी की उपस्थिति में लालाजी आश्रम की विविध गति-विधियों में अपना यथा योग्य सहयोग प्रदान करते रहते थे। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि आश्रम पर एक गुरुकुलीय प्रणाली से आवासीय विद्यालय का संचालन गुरुजी के नाम से किया जाय, किन्तु प्रभु इच्छा बलीयसी के आगे उनकी अपनी इच्छा पूरी न हो सकी। प्रभु उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। यही हम सब की प्रार्थना है। —सम्पादक

आओ करलें वन्दन !

□ श्री दिव्य

जो अथ-इति से शून्य अजन्मा जिसको जग ने जाना,
जन्म-दिवस क्यों आज बताओ हमने उसका माना ?
भूत, भविष्यत्, वर्तमान का बन्धन जिसे न भाया,
कालातीत काल के बन्धन में क्यों बँधकर आया ?
क्यों काया की नाशवान् नगरी में आया योगी,
बना जरा, कौमार्य्य और यौवन का क्यों संयोगी ?
गुणातीत क्यों आज गुणों के सागर में उतरा है,
बना अगोचर गोचर कैसे, कैसे रूप धरा है ?
मन के थे यह प्रश्न—किन्तु मन की गहराई बोली,
और उसी ने धीरे-धीरे प्रश्न-ग्रन्थि यह खोली ?

× × ×

जब-जब होता ह्रास योग का जग भोगों में जाता,
निःश्रेयस अभ्युदय छोड़ जन पाप-पुञ्ज अपनाता।
तब-तब ही ले जन्म धरा पर सिद्धेश्वर हैं आते,
कभी राम, शुकदेव, श्याम, शिव, मोहन हैं बन जाते।
जग को जगमग जाग्रत करने ऐसी ज्योति जगाते,
जिसके प्रकाश में भटके-भूले पथ अपना पा जाते।
इसीलिये मन आज मना लो जन्म-दिवस का मेला,
बड़े पुण्य से, बड़े भाग्य से, आई है यह वेला।
सद्गुरु रूपी परम पुरुष का आओ करलें वन्दन,
आओ आज करें हम मिलकर 'मोहन' का अभिनन्दन।

★

पूज्य गुरुदेवजी की उपस्थिति में अतीत कालीन 'जन्म-दिवस' समारोह में लेखक द्वारा सुनाई गई एक रचना। —'ऋतावरी से साभार'

□

DDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. OCTOBER, 1993

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री

यहाँ सब तेरा ही तेरा है!

मेरा कुछ नहीं यहाँ सब कुछ तेरा-तेरा ही है।

कहते हैं गुरु नानकदेव को एक बार उनके पिता ने अपनी गल्ले की दुकान पर बिठलाया। बालक नानक ने किसी एक ग्राहक को गल्ला तोलना शुरू किया। तोलते हुए कहना शुरू किया—एक, दो, तीन, चार, पांच ·················ग्यारह, बारह, तेरा-तेरा-तेरा। तेरा से आगे उनकी गिनती बढ़ी ही नहीं। उनकी अन्तर अनुभूति तेरा-तेरा में ही सिमिटकर रह गई। जो कुछ यहाँ है सब तेरा-तेरा ही है। मेरा यहाँ कुछ है ही नहीं। और यही गीत यहाँ कभी उपनिषद् के ऋषि ने गाया था :

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्याम् जगत।

यानी यहाँ जो कुछ भी प्रकट है, सब ईश्वर का ही है, यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है। —श्रुतिसार

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बराई कर्ता, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन: 360426